हिन्दी महिला आत्मकथा साहित्य: एक विश्लेषणात्मक अध्ययन

AN ANALYTICAL STUDY OF THE AUTOBIOGRAPHIES OF WOMEN WRITERS IN HINDI

कालिकट विश्वविद्यालय की

डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबंध

Thesis

Submitted to the University of Calicut

for the Degree of

DOCTOR OF PHILOSOPHY IN HINDI

शोध निर्देशक :

प्रो.(डॉ.) वी.जी.मारग्रेट

प्रोफेसर

हिन्दी विभाग

कालिकट विश्वविद्यालय

प्रस्तुतकर्ता :

अनु. टी

शोध छात्रा

हिन्दी विभाग

कालिकट विश्वविद्यालय

हिन्दी विभाग

कालिकट विश्वविद्यालय

2018

Prof. (Dr.) V.G. MARGRET
Professor
Department of Hindi
University of Calicut

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **"An Analytical Study of the Autobiographies of Women Writers in Hindi"** is a bonafide record of research work carried out by **Anu. T.,** under my supervision and that no part of this thesis has hitherto been submitted for a Research Degree in any University.

C.U. Campus
Date:

Prof. (Dr.) V.G. MARGRET
(Supervising Teacher)

Prof. (Dr.) V.G. MARGRET
Professor
Department of Hindi
University of Calicut.

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **"An Analytical Study of the Autobiographies of Women Writers in Hindi"** is a bonafide record of research work carried out by **Anu. T.**, under my supervision and that no part of this thesis has hitherto been submitted for a Research Degree in any universities.

It is also certified that the reports of the adjudicators of the thesis have not been suggested any modifications/ corrections on the work.

C.U. Campus
Date: 4/7/19

Prof. (Dr.) V.G. MARGRET
(Supervising Teacher)

Dr. MARGRET V.G
Professor
Department of Hindi
University of Calicut
Kerala - 673635

DECLARATION

I, **ANU.T**, do hereby declare that this thesis entitled **"An Analytical Study of the Autobiographies of Women Writers in Hindi"** is a record of bonafide research carried out by me and this has not previously formed the basis for the award of any Degree, Diploma, Associateship, Fellowship other similiar Title or Recognition. This research work was supervised by **Dr.V.G. Margret**, Professor, Department of Hindi, University of Calicut.

C.U. Campus
Date:

ANU. T
Research Scholar
Department of Hindi
University of Calicut

प्राक्कथन

प्राक्कथन

साहित्य और जीवन का घनिष्ठ संबन्ध है। अतः दोनों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। जीवन की अभिव्यक्ति करने का सबसे सशक्त एवं प्रभावशाली माध्यम है साहित्य। लेखक अपने भावों और विचारों को व्यक्त करने के लिए साहित्य की विभिन्न विधाओं का सहारा लेते हैं। सामान्यतः साहित्य जीवन की आलोचना कहा जाता है। साहित्य की इस परिभाषा के बिल्कुल निकट विधा है आत्मकथा। जिसमें व्यक्ति द्वारा अपने ही जीवन की तटस्थता और ईमानदारी के साथ कलात्मक अभिव्यक्ति होती है।

आज आत्मकथा साहित्य एक नये मोड़ पर है। समाज के सभी पीडित और हाशिएकृत लोग अपनी पीडाओं, आत्मानुभूतियों और प्रतिरोध को इसके ज़रिए अभिव्यक्ति देने का कार्य कर रहे हैं। उनमें स्त्री ने भी अपनी भागीदारी दर्ज की है। पहले आत्मकथा के क्षेत्र में स्त्रियों का योगदान बहुत ही कम था, लेकिन आज समाज के विभिन्न क्षेत्रों से जुड़ी स्त्रियों की आत्मकथाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें स्त्री जीवन के अनकहे या अनसुने जीवन यथार्थ का पर्दाफाश है।

हिन्दी साहित्य में 'स्त्री विमर्श' आज एक केन्द्रीय मुद्दा बन गया है। स्त्री जीवन से संबन्धित सभी मुद्दों को चर्चा का विषय बनाते हुए स्त्री मुक्ति का रास्ता खोलना इसका परम लक्ष्य है। इस सन्दर्भ में स्त्री आत्मकथा की भूमिका विशेष महत्व रखती है।

मेरा प्रयास, हिन्दी महिला आत्मकथाओं का स्त्री विमर्श की दृष्टि से विश्लेषण करके उनमें अभिव्यक्त स्त्री जीवन से जुड़ी तमाम समस्याओं, संघर्षों और प्रतिरोधों को उजागर करना है।

इस शोध प्रबन्ध का शीर्षक है **'हिन्दी महिला आत्मकथा साहित्य : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन'**। वैज्ञानिक एवं क्रमबद्ध बनाने के लिए और सुविधा की दृष्टि से इस शोध प्रबन्ध को मैं ने उपसंहार सहित पाँच अध्यायों में बाँटा है।

पहला अध्याय **'आत्मकथा : एक साहित्यिक विधा'** है। इसमें आत्मकथा की परिभाषा, आत्मकथा के रचना तत्व, आत्मकथा के प्रकार, आत्मकथा और अन्य गद्य विधाओं का अंतर्संबन्ध, हिन्दी में आत्मकथा साहित्य का उद्‌भव और विकास आदि की चर्चा करते हुए साहित्यिक विधा के रूप में आत्मकथा के विकास और महत्व को परखने का प्रयास किया है।

दूसरा अध्याय **'स्त्री पक्षीय चिंतन: एक सैद्धान्तिक विवेचन'** है। इसमें स्त्री विमर्श के अर्थ एवं परिभाषा को स्पष्ट करते हुए, भारतीय एवं पाश्चात्य स्त्री विमर्श का स्वरूप और अवधारणा का ऐतिहासिक दृष्टि से अवलोकन किया है। साथ ही साहित्य में स्त्री विमर्श की भूमिका और हिन्दी की साहित्यिक विधाओं में अभिव्यक्त स्त्री विमर्श के पहलुओं को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

तीसरा अध्याय है **'हिन्दी महिला आत्मकथा साहित्य : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन' (स्त्री विमर्श के विशेष संदर्भ में)'**। प्रस्तुत अध्याय में चुनी हुई सोलह स्त्री आत्मकथाओं का अध्ययन करके उनमें अभिव्यक्त स्त्री जीवन के वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और साहित्यिक आयामों का स्त्रीपक्षीय दृष्टि से अध्ययन हुआ है।

चौथा अध्याय है **'हिन्दी महिला आत्मकथा : भाषा एवं शैली'**। इसमें स्त्री की भाषा की चर्चा करते हुए स्त्री आत्मकथा की भाषा एवं शैलीगत विशेषताओं पर प्रकाश डाला है।

अंत में इस अध्ययन से प्राप्त निर्णय को **'उपसंहार'** के रूप में प्रस्तुत किया है जिसमें सभी अध्यायों से उभरे मुख्य बिन्दुओं को उजागर किया है। उपसंहार के बाद मैं ने **सहायक ग्रन्थ सूची** और **परिशिष्ट** भी प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध कालिकट विश्वविद्यालय के प्रोफेसर **डॉ.वी.जी. मारग्रेट** जी के निर्देशन में संपन्न हुआ है। जिन्होंने समय-समय पर अपने स्नेह भरे प्रोत्साहन, मूल्यवान सुझाव एवं प्रेरणा देकर मेरी शंकाओं का निवारण किया है। मैं हृदय से सदैव उनकी ऋणी हूँ।

कालिकट विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष **डॉ. वी.के सुब्रमण्यन** जी के प्रति भी मैं आभारी हूँ जिनका पूर्ण सहयोग मुझे मिला है। विभाग के उन सभी गुरुजनों को भी मैं इस अवसर पर आभार प्रकट करती हूँ जिन्होंने इस शोध कार्य की पूर्ति में मेरी सहायता की है। विभाग के शोध छात्रों, दफ्तर व पुस्तकालय के आधिकारियों के स्नेह और सहयोग का भी मैं विशेष रूप से आभारी हूँ।

इस अवसर पर मैं हिन्दी की मशहूर लेखिका डॉ. सुशीला टाकभौरे जी के प्रति भी विशेष आभार प्रकट करना चाहती हूँ जिन्होंने शोध सामग्रि संकलन में मेरी सहायता की है।

शोध सामग्री संकलन के लिए मैं ने कोच्चिन विश्वविद्यालय और कालडी श्री शंकराचार्य विश्वविद्यालय के पुस्तकालयों का उपयोग किया था। वहाँ के सभी अधिकारियों और शोध छात्रों के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करती हूँ।

परिवारवालों के सहयोग के बिना व्यक्ति के जीवन के किसी भी कार्य का शुभांत नहीं हो सकता। स्वर्गीय माताजी का आशिर्वाद और पिताजी की प्रेरणा मुझे हमेशा मिलती रही। इस शोधकार्य की पूर्ति के लिए मानसिक और आर्थिक रूप से प्रेरणा और सहायता देनेवाले मेरे पति डॉ. ए.वी रघुवास और मेरी प्यारी बेटी जानकी के प्रति आभार शब्दों के परे है। अपना भाई दिनु और पत्नी मृदुला ने भी मुझे प्रेरणा और प्रोत्साहन देकर साथ दिया, उन दोनों के प्रति भी मैं कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। इनके साथ-साथ अन्य परिवारवालों, रिश्तेदारों और मित्रों के प्रति भी मैं औपचारिकतावश आभार प्रकट करती हूँ।

इस शोध कार्य का टंकण कार्य करनेवाली श्रीमती षैला जी और उनके बेटे षिदिन को भी धन्यवाद अदा करती हूँ।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में कहीं त्रुटियाँ व कमियाँ आ गई हैं तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। महिला आत्मकथाओं के प्रति रुचि रखनेवाले अध्येताओं और अनुसंधाताओं को प्रस्तुत शोध प्रबंध से फायदा मिलेगा तो मैं अपने आपको धन्य मानूँगी, इस आशा के साथ मेरा यह शोध प्रबन्ध सादर समर्पित है।

विनीता,

अनु. टी
शोध छात्रा
हिन्दी विभाग
कालिकट विश्वविद्यालय

अनुक्रम

पृ.सं.

प्राक्कथन i-iv

पहला अध्याय : 1-47

आत्मकथा : एक साहित्यिक विधा

1.1 आत्मकथा : परिभाषा

1.2 आत्मकथा के रचना तत्व

1.2.1 आत्मतत्व

1.2.2 कथातत्व

1.2.2.1 सुसंबद्ध तथा शिथिल कथानक

1.2.2.2 सरल तथा मिश्र कथानक

1.2.2.3 प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कथानक

1.2.3 देश-काल तथा परिवेश

1.2.4 चरित्र-चित्रण

1.2.5 उद्देश्य

1.2.6 भाषा-शैली

1.2.6.1 शैली

1.3 आत्मकथा के प्रकार

1.3.1 तत्वों के आधार पर आत्मकथा के प्रकार

1.3.1.1 चरित्र प्रधान आत्मकथा

1.3.1.2 कथानक प्रधान आत्मकथा

1.3.1.3 परिवेश प्रधान आत्मकथा

1.3.1.4 जीवन दर्शन प्रधान आत्मकथा

1.3.1.5 शैली एवं शिल्प प्रधान आत्मकथा

1.3.2 प्रतिपादित विषय के आधार पर आत्मकथा के प्रकार

1.3.3 उद्देश्य के आधार पर आत्मकथा

1.3.4 कालखंड के आधार पर आत्मकथा का वर्गीकरण

1.4 आत्मकथा और अन्य गद्य-विधाओं का अंतर्संबन्ध

1.4.1 आत्मकथा और आत्मकथ्य

1.4.2 आत्मकथा और जीवनी

1.4.3 आत्मकथा और संस्मरण

1.4.4 आत्मकथा और डायरी

1.4.5 आत्मकथा और पत्र लेखन

1.4.6 आत्मकथा और निबन्ध

1.4.7 आत्मकथा और रेखाचित्र

1.4.8 आत्मकथा और साक्षात्कार

1.4.9 आत्मकथा और यात्रावृत्तान्त

1.4.10 आत्मकथा और उपन्यास

1.4.11 आत्मकथा और कहानी

1.5 हिन्दी आत्मकथा साहित्य उद्भव और विकास

1.5.1 आत्मकथा साहित्य : भारतेन्दु युग में

1.5.2 आत्मकथा साहित्य : द्विवेदी युग में

1.5.3 आत्मकथा साहित्य : छायावाद तथा छायावादोत्तर युग में

1.5.4 आत्मकथा साहित्य : स्वातंत्र्योत्तर युग में

1.5.4.1 दलित आत्मकथा

1.5.4.2 स्त्री आत्मकथा

निष्कर्ष

दूसरा अध्याय : 48-106

स्त्री पक्षीय चिंतन : एक सैद्धान्तिक विवेचन

2.1 स्त्री विमर्श : स्वरुप एवं अवधारणा

2.1.1 विमर्श : परिभाषा

2.1.2 स्त्री विमर्श : परिभाषा एवं अवधारणा

2.1.3 स्त्रीवाद और उसकी धाराएँ

2.1.3.1 स्त्रीवाद के भेद

2.1.3.1.1 उदारवादी नारीवाद

2.1.3.1.2 उग्रवादी नारीवाद

2.1.3.1.3 मार्क्सवादी नारीवाद

2.1.3.1.4 समाजवादी नारीवाद

2.1.3.1.5 राडिकल लेसबियनिज़्म

2.1.3.1.6 सांस्कृतिक नारीवाद

2.1.3.1.7 पारिस्थितिक नारीवाद

2.1.3.1.8 अश्वेत नारीवाद

2.2 स्त्रीपक्षीय चिंतन : भारतीय संदर्भ

2.2.1 स्त्री मुक्ति आन्दोलन का भारतीय इतिहास

2.3 स्त्री पक्षीय चिंतन : पाश्चात्य सन्दर्भ

2.3.1 स्त्री मुक्ति आन्दोलन का पश्चिमी इतिहास

2.3.2 स्त्री मुक्ति आन्दोलन में प्रेरक पश्चिमी साहित्य

2.4 स्त्री विमर्श : साहित्यिक परिप्रेक्ष्य

2.4.1 हिन्दी साहित्य में स्त्री विमर्श

2.4.1.1 कविता में स्त्री विमर्श

2.4.1.2 कहानी में स्त्री विमर्श

2.4.1.3 उपन्यास में स्त्री विमर्श

2.4.1.4 नाटक में स्त्री विमर्श

निष्कर्ष

तीसरा अध्याय : 107-195

हिन्दी महिला आत्मकथा : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन (स्त्री विमर्श के विशेष सन्दर्भ में)

3.1 पारिवारिक सन्दर्भ और स्त्री

3.1.1 पितृसत्तात्मक परिवार में स्त्री की भूमिका

3.1.2 परिवार में लिंगभेद से पीडित स्त्री

3.1.3 परिवार में बनाई जानेवाली स्त्रियाँ

3.1.4 परिवार में यौन-शोषण की शिकार होती स्त्री

3.1.5 पुरुष की वर्चस्ववादी एवं अहंवादी मानसिकता की शिकार होती स्त्री

3.1.6 परिवार के प्रति स्त्री की मानसिकता

3.2 सामाजिक सन्दर्भ और स्त्री

3.2.1 विवाह संस्था में शिकार होती स्त्री

3.2.1.1 बाल विवाह

3.2.1.2 अनमेल विवाह

3.2.1.3 बहु पत्नी प्रथा

3.2.1.4 दहेज प्रथा

3.2.1.5 वैधव्य और स्त्री

3.2.2 धार्मिक रुढ़ियों और अन्धविश्वासों में फँसी स्त्री

3.2.3 दलित स्त्री और समाज

3.2.4 कामकाजी स्त्रियों की समस्यायें

3.2.5 स्त्रियों के प्रति समाज का नज़रिया

3.2.6 विवाह संस्था की अमानवीय रुढ़ियों को तोड़ती स्त्री

3.3 आर्थिक संदर्भ और स्त्री

3.3.1 स्त्री का आर्थिक परावलंबन

3.3.2 आर्थिक रुप से शोषण की शिकार बनी स्त्री

3.3.3 आर्थिक कठिनाई से जूझती स्त्री

3.3.4 स्त्री का आर्थिक स्वावलंबन

3.4 राजनीतिक सन्दर्भ और स्त्री

3.4.1 राजनीति में प्रवेश करती स्त्रियों की समस्यायें

3.4.2 राजनीति के प्रति स्त्रियों का दृष्टिकोण

3.5 साहित्यिक सन्दर्भ और स्त्री

3.5.1 साहित्यिक क्षेत्र में फैली गॉडफादर संस्कृति

3.5.2 साहित्य में पहचान बनाती स्त्री

3.6 वैयक्तिक सन्दर्भ और स्त्री

3.6.1 अकेलेपन

3.6.2 प्रेम की अनुभूति एवं संकल्पना

3.6.3 हीनताबोध

3.6.4 मातृत्व

निष्कर्ष

चौथा अध्याय : 196-231

हिन्दी महिला आत्मकथा : भाषा एवं शैली

4.1 भाषा

4.1.1 स्त्री की भाषा

4.1.2 स्त्री आत्मकथा की भाषा

4.1.2.1 अन्तर्संवेदनाओं की गहरी अभिव्यक्ति

4.1.2.2 खुली अभिव्यक्ति

4.1.2.3 प्रतिरोध की भाषा

4.1.2.4 प्रतीकात्मक भाषा

4.1.2.5 मुहावरों का प्रयोग

4.1.2.6 कहावतों का प्रयोग

4.1.2.7 अन्य भाषा-शब्दों का प्रयोग

4.1.2.7.1 संस्कृत शब्द

4.1.2.7.2 उर्दु, फारसी, अरबी शब्दों का प्रयोग

4.1.2.7.3 मराठी और पंजाबी भाषा के शब्द

4.1.2.7.4 अंग्रेज़ी शब्द

4.1.2.7.5 ग्रामीण और दलित संस्कृति से जुडे शब्द

4.1.3 स्त्री आत्मकथा की शैली

4.1.3.1 वर्णनात्मक शैली

4.1.3.2 विश्लेषणात्मक शैली

4.1.3.3 चित्रात्मक शैली

4.1.3.4 पूर्वदीप्ति शैली

4.1.3.5 संवादात्मक शैली

4.1.3.6 ऐतिहासिक शैली

4.1.3.7 फान्टसी का प्रयोग

4.1.3.8 आत्मकथा में अन्य विधाओं की शैलियों का प्रयोग

निष्कर्ष

उपसंहार **232-245**

संदर्भ ग्रन्थ सूची **246-254**

पहला अध्याय

आत्मकथा : एक साहित्यिक विधा

मानव अपनी भावनाओं-विचारों तथा अनुभवों को व्यक्त करने के लिए साहित्य का सहारा लेता है। प्रेमचन्द की राय में "साहित्य उसी रचना को कहेंगे, जिसमें कोई सच्चाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो, और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो और साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सच्चाइयाँ और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हो।"[1] हमारा समाज दिन-ब-दिन विकसित हो रहा है। विकास के इस दौर में चुनौतियाँ तथा विषमताएँ भी बढ़ रही हैं। इन संघर्षों का प्रभाव समाज से निकलनेवाले साहित्य में प्रतिफलित होना स्वाभाविक है। आज साहित्यिक प्रवृत्तियों में जो बदलाव आते रहते हैं, उसके अनुसार साहित्य के रूपों में भी परिवर्तन और परिवर्द्धन आ गया है। साहित्य के अनेक रूप है। रचनाकार अपनी इच्छानुसार अपने अनुभवों को व्यक्त करने के लिए किसी भी रूप का चुनाव कर सकता है। इन साहित्यिक रूपों को 'साहित्यिक विधाएँ' कहते है। समाज की बदलती परिस्थितियों और रचनाकारों द्वारा नए-नए प्रयोगों की तलाश की आकांक्षा, आदि के फलस्वरुप आज नई-नई विधाएँ भी जन्म ले रही है। इन साहित्यिक विधाओं को मुख्यरुप से गद्य और पद्य दोनों रूपों में बाँटा गया है-पद्य साहित्य और गद्य साहित्य। पद्य साहित्य के द्वारा ही हिन्दी साहित्य का विकास हुआ है। अत: हिन्दी साहित्य के आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल में पद्य साहित्य की प्रचुरता थी, लेकिन आधुनिक काल में पद्य साहित्य के साथ-साथ नयी गद्य-विधाओं का भी आर्विभाव हुआ, इसलिए आधुनिक काल 'गद्य काल' नाम से जाना जाता है। गद्य साहित्य के भी दो रूप है-'कथा-साहित्य' और 'कथेतर साहित्य। 'कथा' पर आधारित साहित्य कथा साहित्य है, जैसे उपन्यास, कहानी, नाटक, एकांकी। इनमें जो 'कथा' होती है,

वह यथार्थ पर आधारित होती है, फिर भी उसे कल्पना के ज़रिए आगे बढ़ाती है। कुछ विधाएँ ऐसी होती है, जिनमें कथा नहीं होती, जैसे आत्मकथा जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र, डायरी, साक्षात्कार, रिपोताज, यात्रावृत्त आदि। प्रस्तुत वर्गीकरण में कथेतर गद्य विधाओं को साहित्य के क्षेत्र में गौण मान्यता ही मिली थी। लेकिन आज हम देख सकते हैं कि ये सारी विधाएँ भी पर्याप्त समृद्ध हो चुकी हैं और हो रही हैं। ये भी रचनात्मक क्षमता से भरपूर हैं। अत: साहित्य जगत् में इनका भी अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व हैं। इन नई गद्य विधाओं में आत्माभिव्यक्ति की एक सशक्त माध्यम के रूप में 'आत्मकथा' भी साहित्य के क्षेत्र में अपना ठौर पा सकी है। प्रस्तुत अध्याय में एक साहित्यिक विधा के रूप में आत्मकथा के विकास को परखने का प्रयास किया है।

1.1 आत्मकथा: परिभाषा

जर्मन शब्द 'Autobiography' के लिए हिन्दी में प्रयुक्त समानार्थी शब्द है आत्मकथा। 'Autobiography' शब्द का पहला प्रयोग सन् 1796 में जर्मनी में 'हर्डर' ने किया था। फिर यह ब्रिटन पहूँचा जहाँ सर्वप्रथम रॉबर्ट साउथी (Robert Southey) ने 1809- में 'क्वार्टर्ली रिव्यू' में इसका इस्तेमाल करने से ही 'Autobiography' संज्ञा व्यापक रूप में प्रचरित होने लगी। "लिण्डा अन्डेर्सन आधुनिक पाश्चात्य आत्मकथा की शुरुआत 'संत अगस्तिन की कन्फषन्स' (Saint Augustine's Confessions) (AD-398-400) से मानते है।"[2] इस कृति को आधार बनाकर बाद में कई ऐसी रचनाएँ प्रकाशित होने लगी। जब से रॉबर्ट साउथी 'आत्मकथा' शब्द का प्रयोग करने लगा, उससे पहले ही आत्मकथाएँ उपलब्ध थी। साउथी ने इस संज्ञा के अन्तर्गत सिर्फ अपने व्यक्तिगत जीवन पर आधारित रचनाओं को ही शामिल किया

था। इस तरह उन्होंने आत्मकथा को एक अलग ढाँचे में रखने की कोशिश की। इसके बाद कई आलोचक 'आत्मकथा' के लिए परिभाषाएँ देने लगे। पाश्चात्य देश में जन्मे इस विधा ने भारत में भी अपनी विशिष्ट पहचान बनायी।

'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटानिका' में आत्मकथा की परिभाषा यों की है- "आत्मकथा व्यक्ति के जिये हुए जीवन का ब्यौरा है जो कि स्वयं उसके द्वारा लिखा जाता है।"[3] अर्थात आत्मकथा में एक व्यक्ति की अपनी ही ज़िन्दगी का स्वलिखित विवरण है।

"हिन्दी शब्द सागर' के अनुसार "आत्मकथा (आत्म + कथा) "अपने ही मुख से कहा हुआ या अपना लिखा हुआ जीवन वृत्तांत है।"[4] इसमें भी स्वकथन और स्वलेखन पर ज़ोर देते है। इस तरह देखा जाये तो आत्मकथा एक प्रामाणिक दस्तावेज है जिसमें अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा बहुत तेज़ी से हमारे विचारों को जागृत करने और प्रवृत्तियों को ऊर्जा प्रदान करने की क्षमता है। क्योंकि यह सत्य पर आधारित होते है। इसलिए कैसेल ने 'एनसाइक्लोपीड़िया ऑफ लिटरेचर' में आत्मकथा की परिभाषा इस प्रकार दी "आत्मकथा व्यक्ति के जीवन का विवरण है, जो स्वयं के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इसमें जीवनी के अन्य प्रकारों से सत्य का अधिकतम समावेश होना चाहिए।"[5] साहित्य की सभी विधाएँ यथार्थ पर आधारित होते है, लेकिन आत्मकथा में अभिव्यक्त यथार्थ अन्य साहित्यिक प्रकारों से ज्यादा सच और ईमानदारी की माँग करते है और इसमें एक व्यक्ति की जीवनी का सामान्य विवरण ही नहीं होता बल्कि लेखक द्वारा अपनी आपबीती को समय और बाह्य परिवेश के धरातल पर आत्मनिरीक्षण और आत्मविश्लेषण करके प्रस्तुत करता है।

इसलिए पश्चिमी लेखक 'रॉय पास्कल' ने ऐसा कहा कि "इसकी अभिरुची का केन्द्र 'स्व' होता है, जिसमें मुख्य बल आत्मनिरीक्षण और अपने जीवन की सार्थकता पर बाह्य परिवेश प्रस्तुत किया जाता है।"[6] इस तरह लेखक द्वारा आत्मनिरीक्षण करते समय वह अपने सकारात्मक और नकारात्मक पक्षों को भी पाठकों के सामने रखता है जिससे लेखक के संपूर्ण व्यक्तित्व की जानकारी भी प्राप्त हो सकती है। 'डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत' की राय यहाँ सार्थक लगता है- "आत्मकथा, लेखक के जीवन की दुर्बलताओं, सफलताओं आदि का संतुलित और व्यवस्थित चित्रण है जो उसके संपूर्ण व्यक्तित्व के निष्पक्ष उद्घाटन करने में समर्थ होता है।"[7] इस तरह देखा जाये तो आत्मकथा लिखना कठिन कार्य होता है। क्योंकि व्यक्ति जब अपने संबन्ध में लिखता है तो उसमें आत्मप्रशंसा की प्रवृत्ति आ जायेगी। लेखक को इससे बचना चाहिए। अपने गुण-दोषों को तटस्थ होकर प्रस्तुत करना पड़ता है। हिन्दी की वरिष्ठ लेखिका 'प्रभा खेतान' ने आत्मकथा को "स्ट्रीपटीज का नाच कहा है आप चौराहे पर एक-एक कर कपड़े उतारते जाते हैं। लिखनेवाले के मन में आत्म-प्रदर्शन का भाव किसी न किसी रूप में मौजूद रहता है, मन के किसी कोने में हल्की-सी चाहत रहती है कि लोग उसे गलत नहीं समझें कि जो कुछ भी वह लिख रहा है उसे सही परिप्रेक्ष्य में लिया जाए, पर दर्शक वृन्द अपना निर्णय लेने में स्वतंत्र है। उनका मन, वे उस नाच को देखें या फिर पलटकर चले जाएँ।"[8] जब व्यक्ति अपनी जिन्दगी का आत्मविश्लेषण या आत्म निरीक्षण करते समय उसमें उनके युग परिवेश और प्रवृत्तियों का भी समावेश होता है। लेखक जिस युग में जी रहा था, उस युग के सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ भी उस रचना में स्वत: आ जाता है। जैसे डॉ. श्यामसुन्दर घोष की राय में- "आत्मकथा समय प्रवाह

के बीच तैरनेवाले व्यक्ति की कहानी है। इसमें जहाँ व्यक्ति के जीवन का जौहर प्रकट होता है वहाँ समय की प्रवृत्तियाँ और विकृतियाँ भी स्पष्ट होती है।"[9] इसलिए कहा जाता है कि हर एक आत्मकथा प्रत्येक युग का ऐतिहासिक दस्तावेज़ है। एक तरफ से देखा जाये तो हम कह सकते है कि हर एक व्यक्ति का जीवन संघर्षों से आगे बढ़ते हैं। लोग जीवन जीने के लिए संघर्ष करते रहते है। उन संघर्षों को पार करते हुए जो व्यक्ति अपने जीवन आगे बढ़ाता है वही सफल बन जायेगा। श्री रामावतार अरुण ने अपनी आत्मकथा में आत्मकथा को परिभाषित करते हुए ठीक ही कहा है- "व्यक्ति के संघर्ष का सत्यांकित इतिहास है आत्मकथा।"[10] आत्मकथा की जो विषयवस्तु होती है उसके प्रस्तुतीकरण में भी लेखक को ध्यान देना चाहिए। किसी न किसी ढंग से ज़िन्दगी की घटनाओं को प्रस्तुत करने से पाठक वर्ग ऊब जायेंगे। अत: प्रस्तुतीकरण की रीति पर महत्व देते हए डॉ.बापूरावू देसाई ने ऐसा कहा कि- "आत्मकथा में लेखक की ज़िन्दगी का एक श्रृंखलाबद्ध ऐसा विवेचन होता है, जिसमें वह अपने विशाल जीवन सामग्री की पृष्ठभूमि में से समग्र महत्वपूर्ण बातों को लेकर उनको व्यवस्थित ढ़ग से सामने रखता है।"[11]

ज़ाहिर है कि व्यक्ति द्वारा स्वानुभवों की वस्तुनिष्ठ और सत्यनिष्ठ अभिव्यक्ति ही आत्मकथा है। इस अभिव्यक्ति में सिर्फ लेखक के व्यक्तिगत जीवन ही नहीं बल्कि उसके समय और समाज का भी प्रतिफलन होता है।

1.2 आत्मकथा के रचना तत्व

साहित्य में उपलब्ध सभी विधाओं का निर्धारण उनमें निहित तत्वों के आधार पर किया जाता है। प्रत्येक विधा अपनी-अपनी विशेषताएँ और लक्षणों से बाँधे हुए है। इन तत्वों के आधार पर ही उन्हें अलग-अलग ढाँचे में रख दिया है। साहित्य के

अन्य गद्य-विधाओं के समान आत्मकथा ने भी आज अपना स्थान प्रतिष्ठित कर लिया है! कई विद्वानों ने आत्मकथा के तत्वों के संबन्ध में अपना विचार प्रस्तुत किया है। आत्मकथा के मुस्व्य तत्व प्रस्तुत हैं:-

1.2.1 आत्मतत्व

'आत्मतत्व' आत्मकथा का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व है। 'आत्मतत्व' से तात्पर्य 'वैयक्तिकता' अर्थात लेखक के व्यक्तित्व से है। इसमें लेखक अपना ही मूल्यांकन करता है। अत: इसमें लेखक ही स्रष्टा, आख्याता, आलोचक, चरित्रनायक आदि की भूमिकाएँ निभाता है। अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा आत्मकथा में लेखक का व्यक्तित्व और उसकी सफल अभिव्यक्ति की माँग होती है और अपने व्यक्तित्व को प्रत्यक्ष रुप में प्रस्तुत करने का अवसर भी प्राप्त होता है। लेखक की यही व्यक्तित्व ही पाठक के आकर्षण का केन्द्र होता है। लेखक के संपर्क में आए अन्य चरित्र, बाह्य परिस्थितियाँ और घटनाएँ जो प्रत्यक्ष और परोक्ष रुप से उनके व्यक्तित्व निर्माण में सहायक होती है, उनका भी यथातथ्य वर्णन आत्मकथा में आत्मतत्व की प्रतिष्ठापना के लिए किया जाता है। ध्यान देने की बात यह है कि लेखक को 'आत्म' की अभिव्यक्तित सचेत होकर करनी चाहिए और संतुलित ढंग से गुण-दोषों की अभिव्यंजना करनी चाहिए ताकि आत्मकथा में विश्वसनीयता बढ़ जाएगी। ऐसी रचना प्रामाणिक और प्रभावी बन जाती है।

1.2.2 कथातत्व

आत्मकथा का दूसरा प्रमुख तत्व है 'कथा तत्व' जिसमें कथा, उपन्यास, कहानी जैसी विधाओं से बिल्कुल भिन्न है। इसमें अभिव्यक्त 'कथा' लेखक के निजी जीवन की घटनाएँ या प्रसंग होती है। अर्थात आत्मकथा का संपूर्ण ढाँचा घटनाओं के

आधार पर ही खड़ा होता है। यह काल्पनिक कहानी नहीं होती। आत्मकथा में केवल वास्तविक तथ्यों को बिना किसी कल्पना अथवा विकृति के प्रस्तुत किया जाता है। इसमें लेखक अपने ही जीवन सत्य को सुसंबद्ध ढंग से अपनी स्मृतियों के आधार पर पुनर्सृजित करके पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है। इसीलिए 'कथा तत्व' पूर्ण रूप से स्मृति तत्व पर आधारित होता है।

एक व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यू तक की जीवनयात्रा का वर्णन ही आत्मकथा में होता है। लेकिन इसमें व्यक्ति के अंतिम क्षण तक की बातों का उल्लेख नहीं होता। जीवन के बहुत कुछ अंश शेष रह जाता है। इसलिए आत्मकथा को कथा के प्रकारों में 'अपूर्ण कथा' कहा जा सकता है। इस प्रकार अपनी जीवन-कथा को प्रस्तुत करते समय उसमें कलात्मकता और साहित्यिकता को लाना अनिवार्य है।

यह कलात्मकता वर्णन शैली, रोचकता और भाषा के रचनात्मक उपयोग से आती है।

कथावस्तु की दृष्टि से आत्मकथा को दो प्रकारों में विभाजित कर सकते हैं-

1.2.2.1 सुसंबद्ध तथा शिथिल कथानक

आत्मकथा लेखक जीवन की भिन्न-भिन्न घटनाओं को लेकर उसे एक सूत्र में बाँधकर, सुसंबद्ध करके क्रमबद्ध रूप से एक सुनिश्चित ढाँचे में डालकर प्रस्तुत करता है तो, वे आत्मकथाएँ क्रमबद्ध, सुसंगत तथा कलात्मक दिखाई पडेगा। लेकिन इसके ठीक विपरीत अलग-अलग प्रसंगों और घटनाओं को एक सूत्र में बाँधे बिना प्रस्तुत करता है तो वे शिथिल, अनियमित अथवा असंबद्ध आत्मकथाएँ कहलाती है।

1.2.2.2 सरल तथा मिश्र कथानक

कथा के स्वरुप की दृष्टि से ही यह वर्गीकरण किया है। सरल कथानक-आत्मकथा में लेखक सीधे ढंग से सिर्फ आपबीती का विवरण देते चलते है। अपने से संबन्धित अन्य व्यक्तियों, घटनाओं तथा परिस्थितियों को वे अनदेखा करते हैं।

मिश्र कथानक आत्मकथा में लेखक अपनी वैयक्तिक जीवन के साथ-साथ अपने व्यक्तित्व निर्माण में प्रभावित करनेवाले व्यक्तियों, उनसे संबन्धित घटनाओं, परिस्थितियों का जोड़- मिलाप करके एक सच्ची आत्मकथा को प्रस्तुत करते हैं।

कथावस्तु के प्रस्तुतीकरण की रीति के आधार पर उसके दो भेद कर सकते हैं-

1.2.2.3 प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कथानक

जब आत्मकथा लेखक स्व-जीवन को कालक्रमानुसार प्रस्तुत करता चलता है तो वे आत्मकथाएँ प्रत्यक्ष शैली में लिखी गयी आत्मकथाएँ कहलाती है। इनमें लेखक के जन्म से शुरु करके बचपन, यौवन और वृद्धावस्था तक की घटनाओं का कालक्रमानुसार वर्णन मिलता है। इससे उलटा कभी-कभी आन्मकथा- लेखक पहले अपने वर्तमान जीवन की बात करते हैं और फिर भूतकाल के प्रसंगों को प्रस्तुत करते हैं तो, ऐसी आत्मकथाएँ 'पूर्वदृश्य'(फलेश बैक) शैली में लिखी गयी आत्मकथाएँ कहलाती है।

1.2.3 देश-काल तथा परिवेश

साहित्य की अधिकांश विधाओं में यह तत्व विद्यमान है। प्रत्येक साहित्यकार अपनी रचनाओं में इस तत्व को प्रमुख स्थान देते आ रहे है। हर एक व्यक्ति अपने देश-काल तथा परिवेश से जुड़े हुए होते हैं। इसलिए आत्मकथा जैसी स्वलिखित

इतिहास में देश-काल या परिवश स्वत: ही आ जाता है, लेकिन इसका स्वतंत्र रूप से अपना महत्व है। परिवेश या वातावरण के बिना आत्मकथा अधूरा बन जाता है। व्यक्ति को बनाने में परिवेश का महत्व सर्वविदित है।

देश-काल तथा परिवेश के अन्तर्गत आचार-विचार, वातावरण, रीति-रिवाज़, लेन-देन, रहन-सहन एवं राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का चित्रण होता है। युग विशेष का चित्र प्रस्तुत करने के लिए तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक परिवेश का सजीव चित्रण करना आवश्यक है। इसलिए कह सकते है कि कुछ आत्मकथाएँ किसी विशेष समय का इतिहास बताने में ऐतिहासिक पुस्तकों से भी अधिक मदद करती है।

1.2.4 चरित्र-चित्रण

आत्मकथा का लेखक ही उसका नायक होता है। आत्मकथा के ज़रिए वे अपने ही चरित्र का विश्लेषण करते हैं। इसलिए पाठक वर्ग के आकर्षण का केन्द्रबिन्दु भी आत्मकथाकार होता है। साथ ही साथ लेखक के संपर्क में आये अन्य चरित्रों के भी गुण-दोषों का विवेचन और मनोवृत्तियों का यथातथ्य वर्णन होता है। चरित्र-चित्रण के अन्तर्गत लेखक के आन्तरिक और बाह्य व्यक्तित्व पर भी प्रकाश डाला जाता है। आत्मकथाकार के व्यक्तित्व का विकास, उसके मानसिक द्वन्द्व के साथ-साथ उसके अन्तर्बाह्य संघर्ष का चित्रण करना चरित्र-चित्रण की सार्थकता मानी जाती है। इससे पाठकों में आत्मकथा के प्रति आत्मीयता और विश्वास बढ़ता है।

1.2.5 उद्देश्य

किसी भी साहित्य रचना के निर्माण में कोई न कोई उद्देश्य अवश्य रहता है। आत्मकथा लिखने का उद्देश्य अत्यधिक व्यक्तिगत ही होती है। जैसे आत्मप्रकाशन,

आत्मोद्घाटन, आत्मविश्लेषण, आत्मनिरीक्षण और अपने नये अनुभवों की अभिव्यक्ति आदि लक्ष्य ही प्रमुख रूप से आत्मकथा लेखन में कार्यरत है। कभी-कभी आत्मकथा में सीधे ढंग से लेखक अपना उद्देश्य व्यक्त करता दिखाई पड़ता है। लेकिन कुछ आत्मकथाएँ ऐसी होती है, जिनका समग्र रूप से विवेचन-विश्लेषण से ही उस का उद्देश्य समझ सकते है। यदि आत्मकथा का निर्माण निरुद्देश्य हो तो भी पाठकों के लिए उसे प्रभावित करनेवाला कोई न कोई सत्य या जीवनदर्शन उसमें ज़रूर होगा।

आज आत्मकथा- साहित्य एक नये मोड़ पर है। समाज के जितने भी पीड़ित समुदाय हैं चाहे वह दलित हो या स्त्री उनके लिए अपनी पीड़ाओं को, आत्मानुभूतियों को अभिव्यक्त करने का सबसे सशक्त माध्यम के रूप में यह विधा बदल गयी है। ऐसी आत्मकथाएँ सिर्फ व्यक्तिगत उद्देश्य से नहीं बल्कि अपने व्यक्तिगत अनुभवों के ज़रिए सामाजिक बदलाव की माँग करती है।

1.2.6 भाषा शैली

साहित्यकार अपने भावों और विचारों को भाषा के माध्यम से ही पाठकों तक पहूँचाते है। आत्मकथा के सन्दर्भ में लेखक को सरल, स्पष्ट तथा भावानुकूल भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए, ताकि पाठक उसे पूर्ण रूप से समझ सकें और प्रभावित कर सकें। अधिकतर आत्मकथाएँ उत्तम पुरुष एकवचन में प्रस्तुत किया जाता है जो उसका एक गुण माना जाता है। क्योंकि उत्तम पुरुष में लिखे जाने के कारण आत्मकथा और पाठकों के बीच एक आत्मीयता का संबन्ध स्थापित हो जाता है। आत्मकथा में देखे या भोगे हुए यथार्थ का यथातथ्य प्रस्तुतीकरण होने के कारण उसमें

प्रयुक्त भाषा भी जीवंत और लोकव्यवहृत होती है। कभी-कभी उसमें लेखक की भाषा पर जो अधिकार होता है, उसे भी यत्र-तत्र देख सकते है।

1.2.6.1 शैली

भाषा तथा अभिव्यक्ति के उद्देश्य और प्रसंग को ज़ोड़नेवाले सूत्र को शैली कहते हैं। शैली, व्यक्ति के विचार को प्रभावशाली बनाती है अर्थात लेखक के विचार शैली में निबद्ध होकर ही प्रस्तुत होते हैं। एक कृति में सौन्दर्यात्मकता लाने में शैली का ही हाथ है। एसा कहा जाता है कि "शैली अभिव्यक्ति का वह विशिष्ट माध्यम है जिसके द्वारा हम लेखक से परिचय प्राप्त करते हैं।"[12] मतलब यह है कि शैली में लेखक का व्यक्तित्व या स्वभाव भी प्रच्छन्न रूप से सन्निहित रहा है। 'आत्मकथा' में भी यह संभव है। लेखक की भाषा-शैली की विशिष्टता से उसकी पहचान होती है। भाषा, शरीर और शैली उसके गठन के रूप में मानते है तो, भाषा-शैली की यह वैशिष्ट्य और विन्यास लेखक के व्यक्तित्व को स्पष्ट रूप से प्रकट करता है। इसलिए शैली हमेशा रचनाकार पर निर्भर रहती है। वे अपनी आत्मकथा अपनी मनमानी ढंग से लिख सकते है। चाहे तो वे सरल, सहज विवरणात्मक शैली में भी लिख सकते हैं, और उसमें जटिलता भी ला सकते हैं।

आत्मकथा कई शैलियों में लिखती आ रही है। जैसे, सरल-विवरणात्मक शैली, पूर्व दीप्ती शैली (फलैशबैक शैली), पत्रात्मक शैली, संस्मरणात्मक शैली, वर्णनात्मक शैली, दैनंदिनी शैली, औपन्यासिक शैली आदि। डॉ. हरिमोहन के विचार से- "अच्छी आत्मकथा सरल, सहज-औपन्यासिक शैली में ही लिखी जा सकती है, जिसमें जीवन्त जीवन खण्ड फलैश बैक के रूप में और अनेक अनुभव

खण्ड पात्रों के रूप में बिखरे रहते हैं।"[13] ध्यान देने की बात है कि आत्मकथा की शैली में प्रभावात्मकता, संक्षिप्तता एवं रोचकता आदि गुणों का होना आवश्यक होता है।

1.3 आत्मकथा के प्रकार

आत्मकथा का विभाजन प्रमुख रूप से चार आधारों पर किया जा सकता है-

(क) आत्मकथा के तत्वों के आधार पर

(ख) आत्मकथा में प्रतिपादित विषयों के आधार पर

(ग) आत्मकथा में प्रयोजन के आधार पर

(घ) आत्मकथा में कालखण्ड के आधार पर

1.3.1 तत्वों के आधार पर आत्मकथा के प्रकार

1.3.1.1 चरित्र प्रधान आत्मकथा

प्रस्तुत आत्मकथा में लेखक चरित्र को प्रमुखता देते हैं। चरित्रप्रधान आत्मकथा को दो भागों में बाँट सकते हैं। अंतरंग चरित्रप्रधान आत्मकथा और बहिरंग चरित्र प्रधान आत्मकथा। बहिरंग चरित्र प्रधान आत्मकथा में लेखक बाह्य जगत के जीवनयापन एवं बाह्य द्वन्द्वों का चित्रण करते हैं तो अंतरंग चरित्र प्रधान आत्मकथा में अपने अंतर जगत् को महत्व देते है और उसमें अंतर्द्वन्द्वों का ही चित्रण करते हैं। इन दोनों प्रकार की आत्मकथाओं में चरित्र ही प्रमुख होता है और केन्द्रबिन्दु भी।

1.3.1.2 कथानक प्रधान आत्मकथा

आत्मकथा का कथानक लेखक की जीवन घटनाएँ है। इसलिए कथानक प्रधान आत्मकथाओं में लेखक अपने जीवन में घटित घटनाओं को एक सूत्र में बाँधकर उसे क्रमबद्ध ढंग से एक कथा के रूप में प्रस्तुत करते हैं। प्रायः साहित्यकारों के द्वारा लिखी गयी आत्मकथाओं में यह बात विशेष रूप से दृष्टिगत होती है। कहानी, उपन्यास लिखते-लिखते वे इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि जब 'आपबीती' लिखने बैठते हैं तो उसमें भी ऐसा तारतम्य बिठा देते हैं कि पढ़ने पर उसमें कथा कहानी का-सा तारतम्य प्रारंभ से अंत तक बना रहता है।

1.3.1.3 परिवेश प्रधान आत्मकथा (देश-काल संबंधी)

जिन आत्मकथाओं में लेखक परिवेश को अधिक महत्व देते हुए अपनी जीवन घटनाओं को प्रस्तुत करते हैं, उसे परिवेश प्रधान आत्मकथा कहा जा सकता है। लेखक जिस परिवेश में अपना जीवन-काल व्यतीत करते हैं, वह विशेष रूप से चित्रित होता है। परिवेश के साथ देश और काल भी आत्मकथा में प्रतिबिंबित होते हैं।

1.3.1.4 जीवन दर्शन प्रधान आत्मकथा

आत्मकथा व्यक्ति के जिये हुए जीवन का प्रामाणिक दस्तावेज़ है। इसलिए उसमें लेखक के सभी विचार, दृष्टिकोण आदि प्रकट होते है।

साहित्य के अन्य विधाओं में लेखक का जीवन दर्शन परोक्ष रूप से प्रकट होता है लेकिन आत्मकथा में इसकी प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति होती है। अतः जिन

आत्मकथाओं में यह तत्व विशेष रूप से उभरता है, उन्हें जीवन-दर्शन प्रधान आत्मकथाओं में गिना जा सकता है।

1.3.1. 5 शैली एवं शिल्पप्रधान आत्मकथा

शैली एवं शिल्प के आधार पर भी आत्मकथा का विभाजन किया जा सकता है। जैसे आत्मकथाकार अपनी रचना को कलात्मक मूल्य प्रदान करने के लिए भाषा और उसके प्रस्तुतीकरण में अधिक ध्यान देते है। आत्मकथा लेखक अपनी मनचाहे शैली और शिल्प में आत्मकथा को प्रस्तुत करते है। शैली दो प्रकार की हो सकती है। (क) अलंकृत तथा अनलंकृत (ख) व्यास प्रधान तथा समास प्रधान।

जहाँ तक शैली का प्रश्न है, वह अपनी आत्मकथा को अलंकृत अथवा अनलंकृत, किसी भी एक शैली और भाषा की दृष्टि से व्यास प्रधान अथवा समास प्रधान शैली में प्रस्तुत कर सकता है।

शिल्प की दृष्टि से आत्मकथाओं को उपन्यासात्मक, नाट्यात्मक, काव्यात्मक, निबंधात्मक, संस्मरणात्मक, पत्रात्मक और डायरी शिल्प में विभाजित कर सकते हैं।

1.3.2 प्रतिपादित विषय के आधार पर आत्मकथा के प्रकार

आत्मकथा में प्रस्तुत विषय के आधार पर भी इसका विभाजन कर सकते है। ऐतिहासिक, राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक। इसके अतिरिक्त विषय की दृष्टि से और भी अनेक भेद किये जा सकते हैं। जिस आत्मकथा में इनमें से एक का अधिक वर्णन होता है, उसी के आधार पर उसे अलग-अलग कोटी में रख सकते हैं। जैसे महात्मा गाँधी, जवाहरलाल नेहरु,

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद जैसी राजनीतिज्ञों की आत्मकथाएँ 'राजनीतिक' आत्मकथा में आते है।

1.3.3 उद्देश्य के आधार पर आत्मकथा

आत्मकथा लेखक कभी-कभी किसी भी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए आत्मकथा लिखता है। जैसे लेखक आत्माभिव्यक्ति के लिए रचना करता है, या तो आत्मस्वीकृति के लिए और कभी-कभी आत्मप्रशंसा के वशीभूत होकर भी आत्मकथा लिखता है। कुछ लेखक अपनी अनुभवों के द्वारा दूसरों को उपदेश देने के उद्देश्य से भी आत्मकथा लिखता है। ऐसा देखा जाये तो प्रयोजन के आधार पर आत्मकथा के चार भेद कर सकते है, जैसे (क) आत्माभिव्यक्तिमूलक (ख) आत्मस्वीकृतिमूलक (ग) आत्मप्रशंसात्मक (घ) उपदेशात्मक।

1.3.4 कालखंड के आधार पर आत्मकथा का वर्गीकरण

आत्मकथा में मूलतः एक व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यू तक की जीवनघटनाओं का वर्णन होता है। लेकिन कुछ लेखक अपनी ज़िन्दगी के विभिन्न कालखंड को आत्मकथा का रुप देते है। जैसे बाल्यकाल संबन्धी आत्मकथा, यौवनावस्था संबन्धी आत्मकथा, प्रौढावस्था संबन्धी आत्मकथा, वृद्धावस्था संबन्धी आत्मकथा।

1.4 आत्मकथा और अन्य गद्य-विधाओं का अंतर्संबन्ध

आत्मकथात्मक तत्व साहित्य की सभी विधाओं में किसी न किसी रुप में विद्यमान रहता है क्योंकि 'आत्मकथा' व्यक्तिजीवन का यथार्थ ब्यौरा होता है और अन्य साहित्यिक रचनाओं में लेखक के वैयक्तिक जीवन का प्रभाव होना स्वाभाविक

ही है। लेकिन इस आत्मकथात्मक तत्व के कारण सभी प्रकार के लेखन को आत्मकथा कहना समीचीन नहीं होगा। साहित्य की अन्य विधाओं और आत्मकथा में जो आत्मपरकता दिखाई पडता है, उसमें गुणात्मक व स्तरात्मक अंतर भी है। इसी आत्मपरकता के कारण कई उपन्यास, कविता आदि अधिक वास्तविक और प्रभावाभिव्यंजक बन जाते हैं। हम कह सकते हैं कि आत्मकथा, साहित्य की अन्य विधाओं में और शैलियों में बिखरी पड़ी है। हिन्दी की पहली आत्मकथा 'अर्द्धकथानक पद्य शैली में लिखी गई थी। इसके बाद धीरे-धीरे गद्य रूप में आत्मकथा का ढाँचा निश्चित होने लगा। फिर भी कुछ कवियों की कविताओं में आत्मकथांश पाये जाते है। जैसे निराला कृत 'सरोज स्मृति' आत्मकथात्मक तत्वों से बुनी हुई है। इस प्रकार साहित्य के सभी प्रकारों से आत्मकथा साहित्य का संबन्ध सर्वविदित है। फिर भी साहित्य के क्षेत्र में 'आत्मकथा' की एक अलग पहचान है। साहित्य की सभी विधाओं में तात्विक समानताएँ होने के कारण एक विधा का दूसरी विधा से अंतर बहुत सूक्ष्म दृष्टि से परखने की आवश्यकता है। यहाँ आत्मकथा के साथ अटूट संबन्ध रखनेवाली अन्य गद्य विधाओं के अंर्तसंबन्ध को परखने का प्रयास किया है।

1.4.1 आत्मकथा और आत्मकथ्य

अधिकांश लोगों का विचार है कि आत्मकथा और आत्मकथ्य एक ही है। लेकिन आत्मकथ्य, आत्मकथा से भिन्न है। आत्मकथा में लेखक अपनी पूरी ज़िन्दगी का पर्दाफाश करते हैं तो आत्मकथ्य में सिर्फ अपनी रुचियों तथा रचनाधर्मिता के बारे में वक्तव्य दिया जाता है। लेखक के बिना किसी भी कृति का अपना अस्तित्व नहीं होता। हर एक रचना किसी न किसी तरह लेखक से जुड़े हुए होते है। अर्थात

किसी भी साहित्यिक कृति में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से लेखक का व्यक्तित्व अन्तर्निहित होता है। इसी व्यक्तित्व को बहुत सीमा तक रेखांकित करने में 'आत्मकथ्य' सहायक होता है।

'आत्मकथ्य' के ज़रिए लेखक अपनी लेखन प्रक्रिया, उसकी प्रेरणा और प्रवृत्ति के बारे में अपना, विचार प्रस्तुत करते हैं। प्रत्येक साहित्यिक कृति किसी भी तरह की प्रेरणा और उद्देश्य से उत्पन्न है। कभी-कभी साहित्यकार अपनी रचना के आरंभ में 'आत्मकथ्य' के ज़रिए यह प्रकट करते हैं। इससे प्रस्तुत रचना और लेखक के व्यक्तित्व को समझने में एक हद तक 'आत्मकथ्य' सहायक हो जाता है। 'आत्मकथ्य' के ज़रिए प्रस्तुत रचना के साथ पाठकों को एक अंतरंगता स्थापित हो जाते है। कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई भी रचना लेखक के व्यक्तित्व के विषय में संदेह उत्पन्न करें। ऐसी स्थिति में लेखक का 'आत्मकथ्य' उपलब्ध हो सके तो रचना और अधिक स्पष्ट हो जायेगी। कई बार अपने को रचना से जोड़ने के लिए यह 'आत्मकथ्य' 'स्पष्टीकरण' का काम करता है। साथ ही 'आत्मकथ्य' संक्षेप में व्यक्ति के 'लेखक बनने' और 'रचना' के रचने की प्रक्रिया, रचे जाने की आवश्यकता, उद्देश्य आदि तथ्यों पर प्रकाश डालता है। 'ऐसे में' 'आत्मकथा' जैसे व्यापक सागर की एक बूँद ही 'आत्मकथ्य' है। महादेवी वर्मा, पंत आदि की रचनाओं में 'आत्मकथ्य' का उदाहरण देख सकते है।

1.4.2 आत्मकथा और जीवनी

आत्मकथा, जीवनी का ही एक रूप है। इसलिए ही आत्मकथा की केन्द्रबिन्दु एक व्यक्ति की जीवन-कहानी होती हैं, उसी प्रकार जीवनी में भी वही होता है। इसमें

अंतर यह है कि आत्मकथा में व्यक्ति स्वयं अपनी जीवनी लिखता है। जीवनी में किसी और व्यक्ति द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति-विशेष की जीवनी लिखी जाती है।

आत्मकथा मूल रूप से आत्मनिष्ठ होती है, वहीं जीवनी वस्तुनिष्ठ। जीवनी लेखक बाह्य जगत से अन्तर्जगत की ओर उन्मुख होता है। अर्थात उन्हें व्यक्ति की जीवनी प्रस्तुत करने के लिए उस व्यक्ति के कार्य-व्यापारों का अवलोकन करना पड़ता है, इसके ज़रिए ही उसके व्यक्तित्व का अनुमान कर सकता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि मनुष्य के बाह्य कार्यव्यापार और उनके अन्तर्मन के विचार एक नहीं होते। मतलब है कि एक व्यक्ति का बाह्य व्यवहार से पूर्ण रूप से समझना कठिन होता है। यह जीवनी लेखक के लिए चुनौती बन जाता है। आत्मकथा में वर्णित घटनाओं जीवनी की अपेक्षा अधिक विश्वसनीय होती है क्योंकि उसे प्रस्तुत करनेवाला व्यक्ति भुक्तभोगी है। जीवनी में जीवनीकार विभिन्न स्रोतों से इकट्ठे हुए घटनाओं को प्रस्तुत करते हैं, इसलिए वहाँ अविश्वसनीयता की संभावना रहती है। इन दोनों का लक्ष्य व्यक्ति के संपूर्ण जीवन को दर्शाना होता है। आत्मकथा में भी जीवनी की भाँति घटनाओं का क्रमबद्ध रूप में वर्णन होता है। यही उसे संस्मरणों, पत्रों और दैनंदिनी आदि से अलग कर देती है। इनमें लेखकों को कल्पना का सहारा नहीं लेना चाहिए क्योंकि यह सच पर आधारित है।

1.4.3 आत्मकथा और संस्मरण

आत्मकथा और संस्मरण एक दूसरे के बहुत निकट है। दोनों में जीवन की बीती हुई घटनाओं का प्रस्तुतीकरण होता है। इनमें स्मृतियों को आधार बनाकर ही उन्हें पुनर्सृजित करना पड़ता है। मतलब दोनों में स्मृतितत्व केन्द्र में रहते है। लेकिन संस्मरण में आत्मकथा की तरह समग्र जीवन का क्रमबद्ध ढंग से वर्णन नहीं होता

बल्कि लेखक स्मरण करने योग्य किसी व्यक्ति या प्रसंग का गतिशील चित्र प्रस्तुत करता है। आत्मकथा की भाँति संस्मरण में उल्लिखित घटनाएँ भी प्रामाणिक होती हैं। इसमें अतीत के प्रसंगों को लेखक अपनी कल्पना और भावना के ज़रिए पुनर्रचना करता है, और उनमें निहित केन्द्रीय संवेदना को उभारता है। एक बात यह है कि संस्मरण में संवेदना की अधिकता होती है, तो आत्मकथा में संवेदना अथवा भावुकता का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि आत्मकथाकार अपने बारे में स्वयं संवेदना प्रकट करने लग जाये तो वह हास्यास्पद हो जायेगा। कभी-कभी किसी अन्य व्यक्ति से संबन्धित संस्मरण उस व्यक्ति की जीवनी का अंग बन सकता है। आत्मकथा के अति निकट होनेवाले संस्मरण में भी लेखक के व्यक्तित्व भरा रहता है। 'वेद जी' संस्मरण को एक प्रकार की आत्मकथा मानते हुए कहते है- "संस्मरण में पाठक संस्मरणकार के जीवन का स्पंदन सुन सकते हैं, उसके हृदय की आवाज़ के पहचान सकते है, उसकी आत्मा का कंपन देख सकते है।"[14]

यदि संस्मरण का विषय खुद लेखक और उनके जीवन प्रसंग हो तो यह आत्म-संस्मरण की कोटी में आ जाता है। जैसे- "संस्मरण- लेखक यदि अपने संबन्ध में लिखे तो उसकी रचना आत्मकथा के निकट होगी, यदि अन्य विषय में लिखे तो जीवनी के निकट। इन दो प्रकार के संस्मरणों को अंग्रेज़ी में क्रमश: 'Reminiscenes' और 'Memoirs' कहते है।"[15] आत्मकथा के करीब होने पर भी इन्हें 'आत्मकथा' की कोटी में नहीं रख सकते क्योंकि इनमें समग्र जीवन का वास्तविक चित्रण नहीं होता है। यह भी नहीं संस्मरण में यथार्थ की अभिव्यक्ति में कुछ जोड़-घटाव की अधिक संभावना होती है। लेकिन आत्मकथा का सौन्दर्य उसकी विश्वसनीयता में होने के कारण लेखक को ऐसी बातों से सतर्क रहना चाहिए।

1.4.4 आत्मकथा और डायरी

'डायरी' आत्मकथा की एकदम निकटस्थ विधा है। जिस में भी आत्मकथा की तरह अपने निजी कार्यों, विचारों और भावों की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति होती है। इसमें लेखक की अनुभूतियाँ, उसके आसपास घटित होनेवाली घटनाएँ आदि पर तात्कालिक प्रतिक्रियाएँ, विचार, जीवन-दर्शन, दृष्टिकोण आदि का तिथि-क्रम से अंकन किया जाता है। यह लेखक के जीवनखडों की संवेदनात्मक प्रस्तुति है, जिसमें आत्मनिरीक्षण आत्मसंबोधन की प्रमुखता होती है।"[16] इसप्रकार हम कह सकते हैं कि आत्मकथा और डायरी जीवन का प्रामाणिक दस्तावेज है। लेकिन डायरी आत्मकथा की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक माने जाते है। क्योंकि आत्मकथा में लेखक अपने मनपसन्द बातों को प्रस्तुत करते हैं। अनावश्यक बातों को छोड देते हैं। कुछ घटनाओं को वे भूल भी जाते हैं। लेकिन डायरी निजी होती है, इसे प्रकाशन के उद्देश्य से नहीं लिखता। इसमें भावनाओं और अनुभूतियों की भी अभिव्यक्ति होती है, जिसके द्वारा निजता का विवेचन होता है। इसलिए उसमें अभिव्यक्त सत्य अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण, आंतरिक और आत्मीय होता है। किसी भी सत्य को छिपाना डायरी लेखक के बस की बात नहीं।

आत्मकथा में लेखक अपने जीवन की घटनाओं का सिलसिलेवार वर्णन करते हैं जिसमें क्रमबद्धता, पूर्वापर संबन्ध और नैरंतर्यबोध आवश्यक होता है, जो डायरी में नहीं होता। क्योंकि डायरी प्रतिदिन लिखी जाती है और कभी-कभी एक-दो दिन छोड़कर और कभी यह अन्तराल हफतों और महीनों का भी हो सकता है। इसलिए इसमें पूर्वापर संबन्ध जोड़ना मुश्किल होता है।

1.4.5 आत्मकथा और पत्र लेखन

पत्रों का संबन्ध व्यक्तिगत जीवन से होता है। इसलिए यह विधा भी आत्मकथा के दायरे में आता है। हर व्यक्ति किसी को, किसी न किसी रुप में पत्र अवश्य लिखता है जिसमें लेखक अपने किसी प्रियजन, आत्मीय अथवा सम्मान्यजन को संबोधित कर किन्हीं विषयों पर हार्दिक प्रतिक्रिया प्रस्तुत करता है। इसीलिए पत्रों के माध्यम से लेखक के नीजी जीवन की जानकारी भी प्राप्त होती है, साथ ही दूसरी जानकारियाँ भी। देश-काल की परिस्थिति, प्रवृत्तियों और इतिहास का ज्ञान भी पत्रों के माध्यम से हो जाता हैं।

जिस प्रकार आत्मकथा एक व्यक्ति को जानने में मदद करती है उसी प्रकार पत्र भी दूसरों को जानने का सबसे अच्छा माध्यम है। क्योंकि पत्र में स्वयं की हृदयगत भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति होती है, जिसमें लेखक का बाह्य एवं आन्तरिक संघर्ष, उसकी रुचि आदि समाविष्ट होती है। इस प्रकार सभी प्रकार के पत्रों में लेखक के व्यक्तित्व, विचार, प्रतिक्रियाएँ और दृष्टिकोण उपस्थित रहता है। लेखक के वैयक्तिक रहस्य का भी उद्‌घाटन होने के कारण स्वत: उसमें व्यक्तित्व के साथ आत्मचरित के भी अंश प्रकट हो जाते है।

आत्मकथा में लेखक की ज़िन्दगी का क्रमबद्ध विवरण मिलता है तो पत्र किसी विशिष्ट समय की स्वयं के संबन्ध में अथवा किसी ओर के संबन्ध में होनेवाले प्रतिक्रियाएँ होती है। आत्मकथा में समय विशेष की नहीं, संपूर्ण अतीत का विश्लेषण करने की प्रवृत्ति प्रमुख रहती है। इस प्रकार आत्मकथा और पत्रलेखन में समान प्रवृत्तियों का समावेश तो होता है फिर भी स्वरुप की दृष्टि से ये दोनों अलग-अलग है।

1.4.6 आत्मकथा और निबन्ध

बाबू गुलाब राय के अनुसार- "निबन्ध उस गद्य रचना को कहते हैं, जिसमें एक सीमित आकार के भीतर किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन एक विशेष निजीपन, स्वच्छंदता, सौष्ठव और सजीवता तथा आवश्यक संगति और संबन्धता के साथ किया गया हो।"[17] प्रस्तुत परिभाषा की विवेचना करने से कह सकते है कि निबन्ध समुचित आकार की वह गद्य रचना है, जिसमें किसी विषय का वर्णन या प्रतिपादन किया जाता है। उसमें निबन्धकार का व्यक्तित्व, अर्थात उसके निजी विचार, भाव और लेखनशैली रहते हैं। उसका व्यक्तित्व प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष, किसी भी विधि से प्रस्तुत हो सकता है। प्रत्यक्ष विधि में, निबन्धकार निबन्ध के शीर्षक या घोषित विषय के क्रमबद्ध विवेचन की चिन्ता न करके अपने जीवन के प्रसंगों या अपनी धारणाओं का यथावत उल्लेख करता है। निबन्ध में व्यक्तित्व का परोक्ष पदार्पण करते समय वह विषय के क्रमबद्ध विवेचन पर ध्यान देता है और उसी के माध्यम से, पृष्ठभूमि में रहकर व्यक्तित्व को व्यक्त करता है। इस प्रकार देखें तो निबन्ध में भी आत्मकथात्मक तत्व देख सकते हैं। व्यक्ति-प्रधान निबन्ध से लेखक के पूरे व्यक्तित्व, चरित्र तथा संघर्षों का लेखा-जोखा प्राप्त होता है। लेकिन ये आत्मपरक निबन्ध आत्मकथा से बिल्कुल भिन्न है। आत्मकथा में एक व्यक्ति की जीवनगाथा के साथ-साथ पूरे युग की झलक भी प्रस्तुत करते हैं। लेकिन निबन्ध में व्यक्ति के व्यक्तित्व तो उभरकर आता है फिर भी उसमें प्रमुख रूप से लेखक की विचारधारा अंकित की जाती है। आत्मकथा में विषयवस्तु स्वयं लेखक ही होता है, लेकिन निबन्धकार किसी भी विषय में निबन्ध लिख सकते हैं। आत्मकथा बहुत व्यापक है, लेकिन निबन्ध का

आकार सीमित है। आत्मकथा का क्षेत्र बहुमुखी होता है, जबकि निबन्ध में किसी एक ही विषय को महत्व मिलता है।

1.4.7 आत्मकथा और रेखाचित्र

रेखाचित्र परात्मक जीवनी लेखन है। अर्थात् यह भी एक जीवनीपरक विधा है। क्योंकि इसमें भी किसी पात्र विशेष के जीवन की घटनाओं का चरित्र उद्घाटन वर्णन या अंकन किया जाता है। यह आत्मकथा विधा से इस तरह भिन्न है कि इसमें स्वयं के जीवन का अंकन नहीं करता, बल्कि दूसरे के जीवन का ही चित्रण होता है। इसकी मूल विशेषता यह है कि अपने संपर्क में आये किसी भी सामान्य पात्र जो मनुष्य हो, या मनुष्येतर प्राणी या वस्तु भी हो सकते हैं, उसके जीवनांशों का अंकन होता है। इस अंकन में लेखक की दृष्टि पात्र के बाह्य रूपाकार पर अधिक रहती है। इसमें आत्मकथा की भाँति तथ्यों का उद्घाटन पर ध्यान रखना होता है। आत्मकथा लिखते समय लेखक को भावनाओं का सहारा नहीं लेना चाहिए, पर रेखाचित्रकार भावना एवं कल्पनालोक में अपनी इच्छानुसार वर्णन कर सकते है। आत्मकथा और रेखाचित्र वर्णन-प्रधान होता है। रेखाचित्र में कल्पना है और आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति है। आत्मकथा में कल्पना पर अधिक ध्यान नहीं देता, यह एक प्रकार का इतिहास है, जिसकी अभिव्यक्ति लेखक द्वारा तटस्थ भाव से ही हो सकती है।

लेखक किसी रेखाचित्र के साथ जब अपने निजी जीवन का चित्रांकन भी कर देता है तो वे आत्मपरक रेखाचित्र की कोटी में आते है। रेखाचित्रों में लेखक की आत्मपरकता का भी आना स्वाभाविक है। महादेवी के रेखाचित्रों में लेखिका के व्यक्तिगत जीवन की झलक देख सकते है। उनके ही शब्दों में- "इन स्मृति-चित्रों में मेरा जीवन भी आ गया है। यह स्वाभाविक भी था। अंधेरे की वस्तुओं को हम अपने

प्रकाश की धुंधली या उजली परिधि में लाकर ही देख पाते है, उसके बाहर तो वे अनन्त अधिकार के अंश हैं। मेरे जीवन की परिधि के भीतर खड़े होकर चरित्र जैसा परिचय दे पाते हैं, वह बाहर रुपान्तरित हो जायेगा।"[18]

1.4.8 आत्मकथा और साक्षात्कार

साक्षात्कार में एक विशेष व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसके विचारों को समझने का प्रयास रहता है। जिसमें लेखक वार्तालाप या सुनिश्चित प्रश्नों द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति के विचारों को प्रकाश में लाता है। जिस व्यक्ति से साक्षात्कार लिया जाता है, वह विशेष सामाजिक महत्व रखनेवाले होते है। इसके द्वारा व्यक्ति के विचारों की प्रमाणिक जानकारी होती है।

इंटर्व्यू में जब व्यक्ति अपने जीवन से संबन्धित बातों की अभिव्यक्ति करते है तो वह उनके आत्मकथात्मक संक्षिप्त विवरण होता है। उदाहरण के रुप में- "सुप्रसिद्ध उपन्यासकार जैनेन्द्र ने अपनी आत्मकथा तो नहीं लिखी है, लेकिन उन्होंने जो नेहरु संग्रहालय के शोध विभाग के तत्वावधान में एक लंबी भेंटवार्ता टेप की गई, उसमें उसकी स्वयं की जो वाणी मुखरित हुई है, वही कालान्तर में 'मेरे भटकाव' शीर्षक से 1978 में प्रकाशित हुई। इस कृति में जैनेन्द्र ने 1920 के असहयोग आन्दोलन से लेकर स्वतंत्रता प्राप्ती तक की अपने जीवन की विविध झाँकियों को प्रस्तुत किया है, जो संस्मरणात्मक शैली में एक प्रकार से उनकी अत्मकथा का अंश ही है।"[19] परन्तु ऐसी भेंटवार्ताएँ व्यक्ति की जिन्दगी को समग्रता के साथ प्रस्तुत करने में सक्षम नहीं होते, और लिखनेवाला व्यक्ति इन्टरव्यूकार होता है। ईंटरव्यू के ज़रिए व्यक्ति अपने और अपने जीवन के बारे में इन्टरव्यूकार को थोडी-सी जानकारी दे देता है। लेकिन

अधिकांश इंटरव्यू रचना में नायक के व्यक्तिगत जीवन के बारे में पूछे बिना उसकी रचना अथवा किसी बिन्दु-विशेष पर चर्चा कर लेता है।

1.4.9 आत्मकथा और यात्रावृत्तान्त

आत्मकथा और यात्रावृत्तान्त ऐसी विधाएँ है, जिनमें भोगे हुए अनुभव को कलात्मकता के साथ प्रस्तुत किया जाता है। डॉ. किरण बेदी की राय में-"आत्मकथा दृष्टिगत अनुभवों का जैसे के वैसे प्रामाणिक दस्तावेज है।"[20] ऐसा देखा जायें तो यात्रावृत्त में भी ऐसे दृश्यानुभवों की यथार्थ अभिव्यक्ति होती है, लेकिन ये अनुभव मूल रूप से यात्राओं पर आधारित होते है। दोनों विधाओं में बीते हुए यथार्थ का वर्णन होता है। एक तरह से देखा जाये तो हर एक व्यक्ति की ज़िन्दगी एक यात्रा ही है। आत्मकथा एक व्यक्ति की जीवनयात्रा का वर्णन है तो यात्रावृत्तान्त व्यक्ति द्वारा की गई यात्राओं का कलात्मक विवरण है। इसमें स्थान और तथ्यों का विशेष महत्व होता है। यात्रावृत्तान्त के लिए आत्मीयता का होना ज़रुरी है। इस आत्मीयता के कारण ही पाठक लेखक के साथ संबन्ध स्थापित कर सकते हैं। जिस प्रकार वैयक्तिकता को आत्मकथा में महत्वपूर्ण स्थान है, उसी प्रकार यात्रावृत्तान्त के लिए भी यह नितान्त आवश्यक है। अर्थात यात्रावृत्तान्त में भी व्यक्ति के व्यक्तित्व की छाप अधिक प्रभावशाली ढंग से मिलती है। इसमें आत्मकथा से अलगकर लेखक अपनी यात्रा के विभिन्न दृश्यों को कल्पना का आश्रय लेकर प्रस्तुत करता है, और उन्हें नया रूप देता है। कहा जाता है कि यात्राएँ व्यक्ति की ज़िन्दगी में बहुत बड़ी भूमिका निभाती है। आत्मकथा व्यक्ति के समग्र जीवन का वर्णन होने के कारण उसमें कभी-कभी लेखक द्वारा की गयी यात्राओं के अनुभव का खूबसूरत विवरण भी प्राप्त होती है।

कुलमिलाकर ज़ाहिर है कि यात्रावृत्तान्त, आत्मकथा जैसी विशाल घर का एक कमरा मात्र है।

1.4.10 आत्मकथा और उपन्यास

उपन्यास में मानव-जीवन के यथार्थ के समूचे परिदृश्य को कलात्मकता के साथ प्रस्तुत किया जाता है। आत्मकथा में भी यही होता है। तात्विक दृष्टि से इन दोनों के बीच बहुत अधिक समानता देखा जा सकता है। फिर भी आत्मकथा को उपन्यास से बिल्कुल भिन्न मानते हैं। क्योंकि आत्मकथा की सामग्री यथार्थ जीवन के सत्य तथ्यों पर आधारित होती है। लेकिन उपन्यास में प्रस्तुत होनेवाले जीवन यथार्थ कल्पना पर आधारित है, और वह कल्पना के ज़रिए ही आगे बढ़ता है। आत्मकथा में काल्पनिकता का कोई स्थान नहीं। कई आलोचकों और लेखकों की मान्यता यह है कि आत्मकथा में काल्पनिकता लाने से वह उपन्यास के बहुत निकट आ जायेंगे अर्थात उसे उपन्यास कहना पड़ेगा। प्रेमचन्द की राय में- "आत्मकथा में कल्पना का लेश मात्र न होना चाहिए।"[21] अर्थात आत्मकथा को कल्पना से बचना चाहिए, नहीं तो उसकी विश्वसनीयता नष्ट हो जायेगी और ईमानदारी पर आधारित यह विधा आत्मकथा नहीं बन पाती। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि आत्मकथा भी एक साहित्यिक विधा है। अतः आत्मकथा का साहित्यिक होना अनिवार्य है। उसमें साहित्यिकता लाने कलात्मकता एवं सौन्दर्यात्मकता की अनिवार्यता है जिसके लिए लेखक को अपनी कल्पनाशक्ति, सर्जनात्मकता, भाषा-शैली आदि की सहायता लेनी पड़ती है। इस प्रकार सौन्दर्योद्पादन की लालच के कारण साहित्यकारों की आत्मकथाओं में कल्पना के प्रवेश की संभावना अधिक होती है।

आत्मकथा में कल्पना का प्रवेश कला की एक माँग है। अपने वैयक्तिक जीवन को ईमानदारी के साथ उजागर करना आत्मकथाकार की चुनौती है, साथ ही साथ उन्हें अपने अनुभवों को सौन्दर्यात्मकता के साथ प्रस्तुत करना पड़ता हैं। यथार्थ और तथ्य अपने आप में कलात्मक नहीं होते हैं, उन्हें लेखक अपनी सर्जनशील कल्पना के साँचे में कच्ची सामग्री की तरह प्रयुक्त करता है। अतः साहित्यिक आत्मकथा के निर्माण में कल्पना का सक्रिय होना स्वाभाविक है। इसी कारण अधिकांश राजनीतिज्ञों पत्रकारों, तानाशाहों की आत्मकथाएँ साहित्यिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण नहीं है। उनका मूल्य व्यक्ति विशेष के सन्दर्भ में जानकारी और उनकी कार्यशैली और परिस्थितियों तक ही सीमित हैं।

आज आत्मकथात्मक उपन्यास के ज़रिए लोग अपनी जीवन घटनाओं का प्रकाशन परोक्ष रूप से करते है। ऐसे उपन्यास बहुत ही रोचक सिद्ध हुए हैं। लेकिन इस प्रकार के आत्मकथात्मक उपन्यासों को हम आत्मकथा की कोटी में नहीं रख सकते, क्योंकि आत्मकथात्मक उपन्यास में लेखक को पात्र निर्माण, प्रस्तुतीकरण और अपनी समय और युग, जीवन घटनाएँ आदि में अपने मनचाहे ढंग से परिवर्तन लाकर प्रस्तुत करने में पूर्ण स्वतंत्र है बल्कि आत्मकथा लेखक को तटस्थ होकर यह सब अभिव्यक्त करना पड़ता है। ये दोनों विधाएँ अपनी अपनी विशिष्ट शैली उत्तम पुरुष (मैं शैली) में लिखे जाने के कारण अत्यधिक निकट है। आत्मकथात्मक उपन्यास की यह शैलीगत विशेषता ही उसे आत्मकथा से बहुत अधिक निकट लाते है। अन्त में हम कह सकते है कि आत्मकथा अन्य विधाओं से इसलिए भिन्न है कि यह केवल तथ्याश्रित होते है, उसमें किसी भी तरह के ज़ोड-मिलाप का प्रश्न ही नहीं उठता।

1.4.11 आत्मकथा और कहानी

आत्मकथा और कहानी, ये दोनों विधाएँ कथासाहित्य के अन्तर्गत आती हैं। लेकिन इसमें जो 'कथा' है वह बिल्कुल भिन्न है। जैसे आत्मकथा की 'कथा' वास्तविक जीवन घटनाएँ होती है अर्थात इसका मूल उद्देश्य सत्यांकन होता है लेकिन कहानी सत्य अथवा कल्पित दोनों ही हो सकती है। दोनों विधाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति में भी अंतर देख सकते हैं। आत्मकथा में एक व्यक्ति के संपूर्ण जीवन कथा को एक व्यापक कैनवास में प्रस्तुत किया जाता है। लेकिन कहानी आकार में बहुत छोटी होते है क्योंकि यह किसी एक क्षण की भी हो सकती है। इसकी कथावस्तु में व्यापकता की अपेक्षा तीव्रता और एकाग्रता अधिक होती है। कहानी का पूरा ढाँचा लेखक द्वारा चुनी हुई विषय वस्तु पर आधारित होता है। लेकिन आत्मकथा में लेखक को उतनी स्वतंत्रता नहीं मिलता क्योंकि वे अपनी ज़िन्दगी की वास्तविक घटनाओं को क्रमबद्ध ढंग से आलेखन करने में बाध्य है।

आत्मकथा की 'मैं शैली' लेखक और पाठक के बीच एक अंतरंग (आत्मपरक) संबन्ध स्थापित करने में बहुत बड़ी भूमिका निभाती है। साथ ही साथ विश्वसनीयता की दृष्टि से भी आज कथा साहित्य में ही नहीं, कविता विधा में भी 'मैं शैली' अधिकाधिक अपनाई गई है। उदाहरण के लिए इलाचंद्र जोशी की एक कहानी का शीर्षक ही 'मैं' है। अज्ञेय की बहुत सारी कहानियों में निवेदक 'मैं' कहानी का मुख्य पात्र है, ये कहानियाँ है- द्रोही, मनसो, आदम की डायरी, साँप और हजामत का साबून, कोठरी की बात आदि। कभी-कभी इन कहानियों में लेखक का आत्मांश ही प्रस्तुत होते हैं। बल्कि यह प्रस्तुतीकरण परोक्ष रूप से होने के कारण उसे 'आत्मकथा' की कोटी में नहीं रख सकते। ऐसी कहानियों में लेखक

अपने मनमाने ढंग से परिवर्तन और परिवर्द्धन कर सकते हैं। प्रामाणिकता ही आत्मकथा के प्राण है जो कहानी में नहीं मिलते।

निष्कर्षतः आत्मकथा और साहित्य की अन्य गद्य विधाओं के अंतर्संबन्ध का सूक्ष्म अवलोकन करने से कह सकते हैं कि उनमें समानता रखनेवाले आत्मकथा के कई लक्षण तो है पर ये सारी विधाएँ अपने-अपने विशिष्ट स्वरुप के कारण एक दूसरे से भिन्न तथा स्वतंत्र है।

1.5 हिन्दी आत्मकथा साहित्य उद्भव और विकास

भारत में आध्यात्मिकता का बहुत बड़ा प्रभाव होने के कारण व्यष्टि के अलावा समष्टि पर ध्यान देने की स्थिति थी। यहाँ मनुष्य जीवन को क्षणभंगूर और तुच्छ मान लेने के कारण व्यष्टि की कोई महत्व नहीं दे पाया। इस आध्यात्मिक चिंतन के कारण साहित्य भी व्यक्तिकेन्द्रित रचनाओं से अछूता रह गया। आत्मकथा जैसी गद्य विधा भी आधुनिककाल की देन है। लेकिन विधागत स्वरूप के पहले अन्य रूपों में आत्मकथा की रचना होती रही थी। आज जो आत्मकथाएँ लिखती जा रही है वह आत्मकथा का अत्यन्त विकसित रूप है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल में वीरगाथाओं का प्रचलन था। लेखक अपनी आश्रयदाताओं के जीवन को विषय बनाकर रचना करते थे। अर्थात ऐसी रचनाएँ जीवनचरित और आत्मकथा के करीब आते हैं। भक्तिकाल में सभी काव्यधाराओं ने आध्यत्म को ही कविता का विषय बनाया। उन्होंने लोककल्याण एवं मंगल भावना से अपनी रचनाओं को पुष्ट किया। वे अपने पदों और दोहाओं के ज़रिए आध्यात्म का सन्देश सबसे सरल और आकर्षक रुप में जनसाधारण तक पहूँचना चाहता था। इसलिए कविता धार्मिक नवजागरण का माध्यम बन गयी। फिर भी कुछ भक्त कवियों के काव्य में उससे संबन्धित

जानकारी यत्र-तत्र मिलती है। 'कबीर' जैसे महान संत कवि का व्यक्तित्व उनके पदों और दोहों में व्यक्त रूप से दिखाई पड़ते हैं। उसी प्रकार सूरदास, तुलसीदास, जायसी आदि कवियों ने भी अपनी कृतियों के ज़रिए अपने संबन्ध में कहने की कोशिश की है।

आत्मकथा का उत्भव पद्य के रूप में रीतिकाल में ही हुआ। रीतिकाल में प्रसिद्ध कवि बनारसीदास जैन कृत 'अर्द्धकथानक' को हिन्दी की ही नहीं भारत की आत्मकथा साहित्य की प्रथम कृति के रूप में मान्यता मिली है। 'अर्द्धकथानक' सन् 1641 ई. में बनारसीदास जैन ने पद्यशैली में प्रस्तुत किया। लेखक ने मनुष्य की उत्कृष्ट आयु एक सौ दस वर्ष बतलाकर अपने आधे जीवन अर्थात् पचपन वर्षों तक के जीवन की घटनाओं को छः सौ पचहत्तर दोहों और चौपाइयों में पद्यबद्ध किया है। इसलिए इस पुस्तक का नाम 'अर्द्धकथानक' रखा है। यह आत्मकथा अपने समय और समाज के साहित्य की प्रवृत्ति के विपरीत होते हुए भी लेखक के व्यक्तित्व को उद्घाटित करने में सफल हुए हैं। ऐसा देखा जाये तो बनारसीदास जैन का यह प्रयास आत्मकथा साहित्य के लिए एक सराहनीय प्रयास है, जिसे आज भी आत्मकथा साहित्य की प्रथम एवं महत्वपूर्ण कृति के रूप में स्वीकार करते हैं।

1.5.1 आत्मकथा साहित्य: भारतेन्दु युग में

गद्य साहित्य को एक नयी दिशा प्रदान करने वाले भारतेन्दु जी ने ही व्यवस्थित रूप से आत्मकथा लिखने की परंपरा की शुरूआत की उन्होंने एक कहानी: कुछ आपबीती कुछ जगबीती' नाम से अपनी आत्मकथा लिखनी शुरू की लेकिन उनकी अचानक मृत्यू होने के कारण यह रचना पूरी न हो सकी। इस कृति का अंश

'कविवचन सुधा' में प्रकाशित हुआ था और अब भारतेन्दु ग्रन्थावली में उपलब्ध है। कुछ आलोचक इसे आत्मकथा शैली में लिखे हुए उपन्यास मानते है, फिर भी इसमें आत्मकथन के तत्व मिलते है, और आत्मकथात्मक साहित्य के विकास की प्रारंभिक दौर में यह रचना एक अनूठा प्रयास ही है क्योंकि कुछेक पृष्ठोंवाली प्रस्तुत रचना के ज़रिए भारतेन्दुजी ने अपने युग के अन्य साहित्यकारों को भी आत्मकथा लेखन के लिए प्रेरित किया।

भारतेन्दु मण्डल का प्रसिद्ध लेखक श्री राधाचरण गोस्वामी जी की छोटी सी आत्मकथा 'मेरा संक्षिप्त जीवन चरित' (1894 ई) शीर्षक से प्रकाशित हुई। इस युग के प्रभावशाली व्यक्ति श्री प्रतापनारायण मिश्र की कुछ ही पृष्ठोंवाली आत्मकथा 'आत्मचरित्र' उपलब्ध है, जो उसकी असामयिक मृत्यू के कारण पूरा नहीं हो सका। गद्य रुप में लिखित आत्मकथा में, भारतेन्दु युग में उपलब्ध स्वामी दयानन्द सरस्वती की 'स्वकथित आत्मचरित' (आत्मचरित्र) सबसे महत्वपूर्ण कृति है। इस कृति की रचना स्वामी दयानंद सरस्वती ने कर्नल अलकाट के अनुरोध पर लिखना प्रारंभ किया। कर्नल अल्काट ने यह अनुरोध अप्रैल 1879 में किया था। जिसका प्रकाशन थियोसोफिस्ट नामक पत्र में हुआ। प्रस्तुत आत्मकथा में स्वामिजी का विस्तृत जीवन का ब्यौरा है और आत्मविश्लेषण का गहरा प्रयास भी देख सकते हैं। भारतेन्दु युग में प्रकाशित इस रचना को भी एक विशिष्ट उपलब्धि के रूप में माना जाता है। इसी युग में एक सशक्त लेखक अंबिका दत्त व्यास की 'निजवृत्तांत' प्रकाशित हुई जो सिर्फ 56 पृष्ठोंवाली है। प्रस्तुत अपबीती के ज़रिए लेखक ने अपने जीवन के साथ-साथ, सामाजिक एवं साहित्यिक जीवन को भी अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। इस युग में हिन्दी के अलावा अन्य भाषाओं में भी आत्मकथालेखन शुरू हुआ था, और

साथ ही साथ आत्मकथाओं का अनुवाद भी चल रहा था। इस प्रकार हम कह सकते है कि विधित रुप में आत्मकथा का उद्भव और विकास भारतेन्दु युग में ही हुआ था और इस युग के लेखकों ने जो नींव डाली है, उससे प्रेरणा पाकर ही साहित्य का विकास हुआ जो आज एक स्वतंत्र विधा के रूप में विकसित हुई है।

1.5.2 आत्मकथा साहित्य : द्विवेदी युग में

द्विवेदी युग में गद्य लेखन के लिए काफी प्रयत्न करनेवाले महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'मेरी जीवनरेखा' शीर्षक से चार-पाँच पृष्ठों के आत्मकथन उपलब्ध है। इसके बाद आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नाम आता है जिन्होंने भी केवल तीन-चार पृष्ठों का 'आत्म-संस्मरण' लिखा है। इस काल में द्विवेदी जी से प्रेरणा प्राप्त करके जीवनी और आत्मकथा लेखन की दिशा में कई लेखक आकृष्ट हो गये। इसमें स्वामी सत्यानंद अग्निहोत्री की 'मुझमें देवजीवन का विकास' प्रमुख है। जो सन् 1910 में प्रकाशित हुई। सन् 1914 में श्री संतराम जी द्वारा लिखी आत्मकथा है 'मेरे जीवन के अनुभव'। कुल 315 पृष्ठों में संग्रहित यह रचना लेखक के समग्र जीवन को प्रस्तुत करने में सक्षम बने है। डॉ. आनंद सिदंल की राय में- "संतराम जी की यह आत्मकथा एक समाजसेवी और एक साहित्य सेवी की आत्मकथा है। जातिगत विषमताओं में से एक लेखक किस प्रकार स्वयं अपना जीवन व्यतीत करता है, और उस अनुभव से वह पूरे समाज को एक नए माप-दंड पर ला खडा करना चाहता है, यह इस कृति में बताया गया है।"[22]

इसी समय में श्री तोताराम सनाढ्य की आत्मकथा 'फिजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष' प्रकाशित हुई जिसमें उनके इक्कीस वर्षों की जीवन कहानी है, जो

उन्होंने फिजी द्वीप में बिताए थे। ज़ाहिर है कि भारतेन्दु और द्विवेदी युग की अधिकांश आत्मकथाएँ अपने आप में अधूरा ही है। युगों के साहित्यकार मूल रूप से युग की समसामयिक सामाजिक समस्याओं पर दृष्टि डालते थे, वे 'स्व' पर केन्द्रित नहीं थे। इसलिए आत्मकथा जैसी विधा इसी युग में पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पायी। फिर भी कुछ प्रसिद्ध आत्मकथाएँ मिलती है, जो आनेवाले युग के लिए प्रेरणादायक है।

1.5.3 आत्मकथा साहित्य : छायावाद तथा छायावादोत्तर युग में

छायावाद तथा छायावादोत्तर काल में व्यक्ति का महत्व बढ़ा और यथार्थवाद के फलस्वरुप जीवन का सत्य साहित्य में प्रतिष्ठित होने लगा। समष्टि के साथ-साथ व्यष्टि को भी प्रमुखता मिलने लगी, अर्थात 'स्व' की पहचान का महत्व भी स्वीकारने लगा। इसी युग में भाई परमानन्द की 'आपबीती' प्रकाशित हुई जिसमें अपने जीवन के साथ भारत का सच्चा इतिहास भी प्रस्तुत है। सन् 1921 में आर्य समाज के शीर्षस्थ नेता स्वामी श्रद्धानंद सन्यासी द्वारा रचित 'कल्याण मार्ग का पथिक' प्रकाशित हुई उनके व्यक्तिगत जीवन के साथ साथ आर्य समाज से संबन्धित बातों का भी वर्णन मिलता है। सन् 1933 में प्रकाशित हिन्दी के प्रसिद्ध पत्रकार एवं साहित्यकार पंडित लज्जाराम मेहता की 'आपबीती' भी उल्लेखनीय है।

हिन्दी में आत्मकथा लेखन को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से मुंशी प्रेमचन्द द्वारा प्रकाशित 'हंस' की आत्मकथा विशेषांक सन् 1932 में प्रकाशित हुआ, जिसमें विभिन्न लेखकों के आत्मकथन संकलित है। डॉ.धनीराम, सद्गुरुशरण अवस्थी, विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक, राधेश्याम कथावाचक, आदि की आत्मकथात्मक रचनाएँ इसमें

संकलित है। प्रेमचन्द ने भी ‘मेरा जीवन सार’ शीर्षक से कुछ पृष्ठों में अपने अतीत को बडी ईमानदारी और सत्यता के साथ इसमें प्रस्तुत किया है।

छायावाद युग में उपलब्ध इन आत्मकथाओं के साथ-साथ राजनैतिक क्षेत्र से जुडे हुए महत् व्यक्तियों की आत्मकथाएँ भी हिन्दी में आयी जिनमें प्रमुख है, राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीजी की आत्मकथा ‘सत्य के प्रयोग’ जो मूलत गुजराती मे लिखी हुई है। हिन्दी में इसका अनुवाद श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने किया और 1927 में प्रकाशित हुई। गाँधिजी की यह आत्मकथा, आत्मकथा साहित्य के क्षेत्र में मील का पत्थर है। इसके बाद नेता जी सुभाषचन्द्र बोस द्वारा लिखित ‘तरुण के स्वप्न’, जो 1935 में प्रकाशित है, भी एक उल्लेखनीय रचना है। नेताजी की आत्मकथा का अनुवाद गिरीशचन्द्र जोशी ने किया। ये दोनों ग्रन्थ अन्य लेखकों और पाठकों को एक साथ प्रेरणादायक और प्रभावात्मक है।

छायावादोत्तर काल में आत्मकथा लेखन की प्रवृत्ति अत्यधिक दृढ़ होने लगी। सन् 1939 में श्री भवानीदयाल सन्यासी की आत्मकथा ‘प्रवासी की आत्मकथा’ प्रकाशित हुई। यह भी अपने आप में एक विशिष्ट कृति मानी जाती है जिसमें दक्षिण आफ्रिका के प्रवासी भारतीयों की कष्ट-कथा का वर्णन है। बाबू गुलाबराय ने अपनी आत्मकथा ‘मेरी असफलताएँ’ में अपनी आत्मस्वीकृतियाँ और गुण-दोषों का ईमानदारी के साथ विवेचन किया है। डॉ. श्यामसुन्दर दास की ‘मेरी आत्मकहानी’ और मूलचन्द्र अग्रवाल की ‘एक पत्रकार की आत्मकथा’ भी इसी युग की देन है। डॉ.श्यामसुन्दरदास की ‘मेरी आत्मकहानी’ सन् 1941 में प्रकाश में आई। इसका अधिकांश भाग नागरी प्रचारिणी सभा के वर्णनों से आपूर्ण है, क्योंकि लेखक का

संपूर्ण जीवन इस सभा से जुड़ा हुआ है। संपादक मूलचन्द्र अग्रवाल की आत्मकथा सन् 1944 ई. में प्रकाशित हुई। जिसमें उन्होंने अपनी पत्रकारिता के अनुभवों को विस्तार से वर्णित किया है, साथ-ही-साथ अपने व्यक्तिगत जीवन संघर्षों का भी उद्‌घाटन किया है। हरिभाऊ उपाध्याय की आत्मकथा 'साधना के पथ पर' (1946) में लेखक ने सन् 1892 से 1945 तक के जीवनानुभवों को लिपिबद्ध किया है। जिसमें कही-कही उपदेशात्मकता की झलक है। इसी समय में भारतीय स्वंतत्रता संग्राम के अमर सेनानी लाला लजपतराय की 'आत्मकथा' लाहोर से प्रकाशित होनेवाली 'पंजाब केसरी' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी जो बाद में पुस्तक रूप में आई और एक महत्वपूर्ण अनूदित आत्मकथा है भारत के प्रधानमंत्री पंडित जवहरलाल नेहरू की 'मेरी कहनी'। भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ.राजेन्द्र प्रसाद की 'आत्मकथा' 1947 में प्रकाशित हुई, जो लेखक के व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ भारत की स्वतंत्रता के इतिहास का प्रामाणिक दस्तावेज़ भी है।

छायावाद तथा छायावादोत्तर युग में विभिन्न क्षेत्र से जुडे व्यक्तियों की आत्मकथाएँ उपलब्द हुई जिससे हिन्दी की आत्मकथा साहित्य को एक नयी पहचान मिली।

1.5.4 आत्मकथा साहित्य: स्वातंत्र्योत्तर युग में

आत्मकथा साहित्य की उपलब्धियों की दृष्टि से स्वातंत्र्योत्तर काल अत्यन्त समृद्ध एवं उत्कर्ष का काल है। राहुल सांकृत्यायन की आत्मकथा पाँच खंडों में 'मेरी जीवनयात्रा' शीर्षक से प्रकाशित हुई। इनमें से पहले दो खंड उनके जीवनकाल में क्रमशः 1946 तथा 1947 में प्रकाशित हुए तथा शेष तीन खंडों का प्रकाशन उनकी

मृत्यू के बाद सन् 1967 में हुआ था। इन विभिन्न खंडों में लेखक के जीवन के 63 वर्षों का प्रामाणिक ब्यौरा, प्राप्त होता है। श्री वियोगी हरी की आत्मकथा 'मेरा जीवन प्रवाह' सन् 1948 ई. में प्रकाशित हुई थी। वे लोकप्रिय साहित्यकार और महात्मागाँधी के सिद्धान्तों के अनुयायी एवं प्रचारक भी थे। इसलिए उनकी आत्मकथा में उनका समाजसेवी रुप ही अधिक उभरकर आया है। प्रसिद्ध कथाकार यशपाल की आत्मकथा 'सिंहावलोकन' तीन खंडों में, क्रमशः 1951, 1952 तथा 1955 में प्रकाशित हुई। डॉ.नगेन्द्र की राय में "यशपाल साहित्य सृष्टा के साथ साथ भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के सेनानी भी रहे हैं। फलत: उनकी इस कृति में व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ क्रान्तीकारी दल के कार्यों का लेखा-जोखा भी प्राप्त होता है।"[27] सन् 1950 में श्री विनोदशंकर व्यास कृत 'उलझी स्मृतियाँ' प्रकशित हुई जिसमें व्यक्तिगत जीवन की उलझनें तो हैं साथ ही तत्कालीन साहित्यिक चित्रण भी है। यह शैली की दृष्टि से महत्वपूर्ण है फिर भी लेखक ने अपने गुणों के साथ अवगुणों को भी स्वीकार करने का साहस दिखाया है। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की आत्मकथा 'स्वतंत्रता की खोज में' सन् 1951 में प्रकाशित हुई। शांतिप्रिय द्विवेदी जी की 'परिव्राजक की प्रजा' संस्मरणात्मक शैली में लिखी गयी आत्मकथा है जो 1952 में प्रकाशित हुई लोकगीतों के यशस्वी संग्रहकार देवेन्द्र सत्यार्थी की आत्मकथा के दो भाग 'चाँद सूरज के वीरन' (1952) तथा 'नीलयक्षिणी' (1985) शीर्षकों से प्रकाशित हुई हैं। 'चाँद सूरज के वीरन' तीन खंडों में विभक्त है। इसमें लेखक ने अपने बचपन, शिक्षा संबन्धी यात्राओं तथा साहित्यिक जीवन के अनुभवों को निबद्ध किया है। 'नीलयक्षिणी' में लेखक ने अपने जीवन के सन् 1927 से 1984 तक के कालखंड को

प्रस्तुत किया है। शिल्प की दृष्टि से भी यह आत्मकथा हिन्दी में एक अभिनव प्रयोग है। इसी युग में ही मंगला प्रसाद उपाध्याय की पुस्तक 'जीवन चक्र' (1954) प्रकाशित हुई। जिसमें आर्य समाज के प्रचार-प्रसार का वर्णन अधिक है। एक अन्य आर्य समाजी नरदेव शास्त्री जी की आत्मकथा 'आपबीती जगबीती' सन् 1957 में प्रकाशित हुई। इसकी खूबी यह है कि यह एक दक्षिण भारतीय की लिखी हुई हिन्दी की आत्मकथा है। यह कृति आर्यसमाज से जुड़ी होने का कारण भारतीय जीवन पर आर्यसमाज के विभिन्न प्रभावों को रेखांकित करने में सक्षम है। उपन्यासकार चतुरसेन शास्त्री की आत्मकथा दो खंडों में विभाजित है- 'यादों की परछाइयाँ' (1956) तथा 'मेरी आत्मकहानी' (1963)। सुप्रसिद्ध नाटककार सेठ गोविन्ददास की कृति 'आत्मनिरीक्षण' (सन् 1957) तीन भागों में विभाजित है जिसमें राजनीतिक तथा पारिवारिक जीवन की घटनाओं का विस्तृत वर्णन है। देवराज उपाध्याय जी की आत्मकथा दो भागों में विभक्त है। उसमें पहला भाग 'बचपन के दो दिन' 1958 में और दूसरा 'यौवन के द्वार पर' 1970 में प्रकाशित हुई। इसकी यही विशेषता है कि लेखक ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर अपने जीवन की विभिन्न प्रवृत्तियों के मूल कारणों को खोज निकालने का प्रयास किया है। हिन्दी के प्रसिद्ध निबंधकार पद्मलाल पुन्नलाल बख्शी ने 'मेरी अपनी कथा' (1958) के ज़रिए अपने जीवन और समकालीन साहित्यकारों और साहित्यिक परिवेश पर भी प्रकाश डाला है। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' ने 'अपनी खबर' (1960) में अपने जीवन के प्रारंभिक इक्कीस वर्षों की घटनाओं को वाणी दी है। संतराम बी.ए की 'मेरे जीवन के अनुभव' 1963 में छपकर आई। जिसमें अपने समय के सामाजिक तथा साहित्यिक कार्यों का

लेखा-जोखा मिलता है, साथ ही जाति-पांति का जमकर विरोध भी इसमें प्रकट हुआ है।

इन्हीं साहित्यकारों की आत्मकथाओं की श्रृंखला में सुप्रसिद्ध महाकवि हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा चार खंडों में प्रकाशित है 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' (1969), 'नीड़ का निर्माण फिर' (1970), 'बसेरे से दूर' (1977), 'दशद्वार से सोपान तक' (1985) आदि। इन सभी खंडों में कवि ने गद्य का उदात्त स्वरुप प्रस्तुत किया है। कैलाश चन्द्र भाटिया का विचार है- "इस आत्मकथा में तत्कालीन युगीन धाराओं के अतिरिक्त सांप्रदायिकता, जातिभेद, स्वाधीनता आन्दोलन, राष्ट्रप्रेम आदि सभी कुछ है। शैली बड़ी रोचक तथा भाषा प्रवाहमय हैं। इस आत्मकथा को शुद्ध रूप से साहित्यिक आत्मकथा कहा जाता है।"[28]

वृन्दावनलाल वर्मा की 'अपनी कहानी' (1972) में उनके जीवन-संघर्ष, साहसी स्वभाव, शिकारी प्रवृत्ति, साहित्य जगत में प्रवेश, लेखन-प्रेरणा आदि की ओर प्रकाश डाला है। सन् 1974 में प्रकाशित रामावतार अरुण की 'अरुणायन' उनके जीवन तथा लेखन का विवरणात्मक इतिहास है। इन आत्मकथाओं के साथ-साथ पृथ्वीसिंह आज़ाद की आत्मकथा 'क्रांतिपथ का पथिक' (1964), आबिदअली द्वारा हिन्दुस्तानी में लिखी गई आत्मकथा 'मज़दूर से मिनिस्टर' (1968), चतुर्भजशर्मा की 'विद्रोही की आत्मकथा (1970), सुखदेवराज की 'जब ज्योति जगी' (1971) मोरारजी देसाई की 'मेरा जीवन वृत्तांत' (1972) आदि भी प्रमुख है।

प्रस्तुत युग में साहित्यकारों की आत्मकथाओं के अलावा, पत्रकारों, अध्यापकों, वकीलों, फिल्मी कलाकारों, पुलिसकर्मचारियों आदि की भी आत्मकथाएँ उपलब्ध है।

पत्रकार इंद्र विद्यावाचस्पति ने 'पत्रकारिता का अनुभव' (1960) प्रकाशित करके पत्रकारों के यथार्थ जीवन को प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है। शिक्षकों द्वारा लिखी गई आत्मकथाओं में कालिदास कपूर की 'मुदर्रिस की आत्मकथा' (1953) तथा प्रिसंपल देवानंद की 'मानसिक चित्रावली' (1960) आदि का योगदान सराहनीय है। वकीलों द्वारा लिखी गयी आत्मकथाओं में गणेश वासुदेव मावलंकर कृत 'मेरा वकालती जीवन' (1964) उल्लेखनीय है। फिल्मी जीवन से संबन्धित आत्मकथाओं में बलराज साहनी की आत्मकथा 'मेरी फिल्मी आत्मकथा' (1974) विशिष्ट है। विजया नरवणे की आत्मकथा 'सैनिक परिवेश और मैं' (1972) सैनिक जीवन से जुड़े कटु-मधुर अनुभवों का प्रस्तुतीकरण है। विश्वनाथ लाहिरी द्वारा लिखित 'एक पुलिस अधिकारी की आत्मकथा' (1984) में ईमानदार और कर्मठ पुलिस अधिकारियों की समस्याओं का चित्र खींचा है।

उन्नीस सौ अस्सी के बाद आत्मकथा साहित्य के क्षेत्र में साहित्यकार नये-नये प्रयोगों का आविष्कार करने लगे, जैसे 1980 ई. में 'गर्दिश के दिन' शीर्षक से कमलेश्वर के संपादन में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के बारह रचनाकारों का 'आत्मकथ्य' एक साथ प्रकाशित हुए। जिनमें उन रचनाकारों ने अपने जीवन की संघर्षकालीन मानसिकता को व्यक्त किया है। यह पूर्ण रुप से आत्मकथा नहीं बल्कि आत्मकथ्य है। कवि, कथाकार रामदर्श मिश्र की आत्मकथा है- 'जहाँ मैं खड़ा हूँ' (1984) जिसमें लेखक ने अपने जन्म से लेकर सोलह वर्ष तक के जीवन का वर्णन किया है। हंसराज रहबर की 'मेरे सात जनम' (1986) में उन्होंने अपने जीवन के बहाने अपने समय के पंजाब के धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक

परिवेश को भी पर्याप्त विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है। डॉ. रामविलास शर्मा की ‘घर की बात’ (1983 ई) यशपाल जैन की ‘मेरी जीवनधारा (1987) कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर की ‘तपती पगडंडियों पर पदयात्रा’ (1989), फणीश्वरनाथ रेणु की ‘आत्मपरिचय’ (1988 ई), डॉ. नगेन्द्र की ‘अर्धकथा’ (1988 ई) आदि भी उल्लेखनीय है।

प्रस्तुतकाल के बाद आत्मकथा धीरे-धीरे साहित्य की प्रगति के पथ पर अग्रसर होते दिखाई दे रहा है। कई मौलिक आत्मकथाओं के प्रकाशन के साथ-साथ अनूदित आत्मकथाएँ भी प्रकाशित होने लगी। साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर रामदरश मिश्र जी की ‘टूटते बनते दिन’ (1990), अमृतलाल नागर की ‘टुकड़े टुकडे दास्तान’(1991) रामविलास शर्मा की ‘अपनी धरती अपने लोग’ (1996), कमलेश्वर के जी मैंने जिया’ (1992 ई), ‘यादों का चिराग’ (1997 ई), ‘जलती हुई नदी’ (1999 ई) आदि अलग-अलग शीर्षकों से तीन खण्डों की आत्मकथा, भगवतीचरण वर्मा की ‘कहि न जाय का कहिए’ (2001), राजेन्द्र यादव की ‘मुड़-मुड़ कर देखता हूँ’ (2001 ई), ‘देहरि भई विदेस’ (2005 ई.), अखिलेश की ‘वह जो यथार्थ था’ (2001 ई), भीष्म साहनी की ‘आज के अतीत’ (2003 ई), स्वदेश दीपक की ‘मैं ने मांडू नहीं देखा’ (2003 ई), विष्णु प्रभाकर की तीन खंडों में प्रकाशित ‘पखहीन’, ‘मुक्त गगन में’, ‘पंछी उड़ गया’ (2004 ई), मिथिलेश्वर की ‘और कहां तक कहें युगों की बात’ (2012 ई), मधुरेश की ‘आलोचक का आकाश’ (2012), डॉ. महीप सिंह की ‘कितनी धूप में कितनी बार’ (2013), नरेन्द्र कोहली की ‘आत्म स्वीकृति’ (2014), डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की ‘अस्ति और भाषति’ (2014) मिथिलेश्वर

की 'जाग चेत कुछ करौ आई' (2015) आदि रचनाओं ने आत्मकथा साहित्य में विशेष रूप से चर्चित हुई हैं।

1.5.4.1 दलित आत्मकथा

हिन्दी आत्मकथा साहित्य को एक नई दिशा देने में दलित और स्त्री आत्मकथाओं की बहुत बड़ी भूमिका है। नवें दशक से ही दलित और स्त्री आत्मकथाएँ हिन्दी आत्मकथा साहित्य में प्रतिष्ठित होने लगी।

हिन्दी पाठकों व साहित्यकारों में दलित आत्मकथाओं के प्रति रुचि बढ़ी जो साहित्य की एक प्रमुख विधा बन रही थी। दलित लेखकों ने अपने और अपने समाज के जीवन स्पष्ट करने का सबसे श्रेष्ठ माध्यम के रुप में आत्मकथा विधा को स्वीकार किया। हिन्दी में दलित आत्मकथा लिखने की शुरुआत पत्रकार राजकिशोर द्वारा संपादित 'हरिजन से दलित' में दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकी का आत्मकथांश से मानी जाती है। इसके प्रेरणा स्वरूप 1995 में मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा 'अपने-अपने पिंजरे' प्रकाशित हुई और 1996 में ओमप्रकाशवाल्मीकी जी की 'जूठन' पुस्तक रूप में छपकर आई इसके बाद हिन्दी की पहली दलित स्त्री की आत्मकथा कौसल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' (1999), प्रकाश में आई। उसके बाद सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत' (2002), डी.आर.जाटव की 'मेरा सफर मेरी मंजिल' (2000), माताप्रसाद की 'झोंपडी से राजभवन तक' (2002), डॉ. श्यामलाल की 'एक भंगी उपकुलपति की अनकही दास्तान' (2004), डॉ. श्यौराजसिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' (2009), सुशीला टाकभौरे की 'शिकेजे का दर्द' (2011) आदि आत्मकथाएँ प्रकाशित हुई। इन सभी

आत्मकथाओं में लेखक के अपने जीवन के साथ दलित समाज के जीवनानुभव व्यक्त हुए है। अर्थात अपनी बीती ज़िन्दगी में भोगे हुए अन्याय, अत्याचार, अपमान, शोषण को प्रस्तुत कर आज भी ऐसी जिन्दगी जीनेवालों के जीवन को सार्वजनिक कर दिया है। इसमें संपूर्ण समाज व्यवस्था से व्यक्ति का विरोध चित्रित है। कौशल्या बैसंत्री जी और सुशीला टाकभौरे जी ने अपनी आत्मकथाओं के ज़रिए एक दलित होने के साथ-साथ स्त्री होने की दोहरी पीड़ा को भी व्यक्त किया हैं। मानव द्वारा निर्मित समस्याओं से छुटकारा पाने के लिए सदियों से दलित समाज आन्दोलन कर रहा है। जिसमें दलित आत्मकथा का योगदान भी महत्वपूर्ण है।

1.5.4.2 स्त्री आत्मकथा

जिस प्रकार दलित आत्मकथाएँ नई धारा के रूप में प्रस्तुत हुई उसी प्रकार स्त्री आत्मकथाओं को भी आत्मकथा साहित्य में अपना एक जगह मिलने लगी। साठोत्तरी युग से पहले आत्मकथा के क्षेत्र में स्त्रियों की भागीदारी एकदम नहीं के बराबर थी। उसके बाद जो आत्मकथाएँ प्रकाशित हुई उसमें साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र से जुड़ी अनेक महिलाओं की आत्मकथाएँ उपलब्ध है।

हिन्दी साहित्य की पहली महिला आत्मकथा के रूप में 'दुःखिनीबाला' की 'सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी उपलब्ध है। इसका प्रकाशन 'स्त्री दर्पण' पत्रिका के जुलाई, 1915 से मार्च, 1916 तक के अंकों में धारावाहिक रूप से हुआ था। इसकी लेखिका दुःखिनीबाला के बारे में कोई जानकारी नहीं मिली। प्रज्ञा पाठक ने 'स्त्री दर्पण' पर शोध करते हुए इस रचना की प्रासंगिकता की ओर विचार किया और इसे पुस्तक रूप में 2010 में प्रकाशित किया। उनका कथन है "हिन्दी में

स्त्रियों की आत्मकथा के अभाव को देखते हुए दुःखिनीबाला की लिखी हुई 'सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी' न केवल आत्मकथा होने के नाते महत्वपूर्ण है बल्कि हिन्दी क्षेत्र में हुए स्त्री-आन्दोलन का एक प्रामाणिक दस्तावेज भी है।"[25] 1915 में लिखी हुई यह आत्मकथा आज भी प्रासंगिक है, क्योंकि जिस समय और सामाजिक संदर्भ में वह लिख रही थी तब कोई विधवा स्त्री अपनी और अपने जैसे स्त्री समाज की पीड़ा को लेखन के ज़रिए उजागर करने का साहस नहीं करती थी। यह लेखिका के संपूर्ण जीवनकथा नहीं है बल्कि बचपन में हुए विवाह और उसके बाद विधवा होकर जीने में अभिशप्त एक लड़की की उलझनों, आशंकाओं, सपनों और आक्रोशों का दस्तावेज़ है। प्रस्तुत आत्मकथा के बाद 1956 ई. में जानकी देवी बजाज की आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा प्रकाशित हुई थी। इसके बाद दिनेश नंदिनी डालमिया की 'मुझे माफ करना' (1985) प्रतिभा अग्रवाल की 'दस्तक ज़िन्दगी की' (1990), 'मोड़ ज़िन्दगी का' (1996) प्रकाशित हुई।

बीसवीं शताब्दी तक आते-आते हिन्दी में महिला आत्मकथाकारों की संख्या बढ़ने लगी। स्त्री अपने अस्तित्व के बारे में जागरूक होने लगी और अपनी आत्मकथाओं के ज़रिए वे अपने को खोजने लगी। बीसवीं शताब्दी के प्रमुख स्त्री आत्मकथाएँ है- पद्मा सचदेव की 'बूँद बावड़ी' (1999), कुसुम अंसल की 'जो कहा नहीं गया' (1996), कौसल्या बैसंत्री जी का 'दोहरा अभिशाप' (1999), मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुण्डल बसै' (2002), 'गुड़िया बीतर गुडिया' (2008), मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी' (2008), चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की 'पिंजरे की मैना' (2008), सुशीला राय की 'एक अनपढ़ कहानी' (2005), शीला झुनझुनवाला की

‘कुछ कही कुछ अनकही’ (2009), प्रभा खेतान की ‘अन्या से अनन्या’ (2007), कृष्णा अग्निहोत्री जी की ‘लगता नहीं है दिल मेरा’ (2010), ‘और... और... औरत (2010), रमणिका गुप्ता की ‘हादसे’ (2005) और ‘आपहुदरी’ (2015), सुशीला टाकभौरे जी की ‘शिकंजे का दर्द’ (2011), ज़ोहरा सहगल की ‘करीब से’ (2013), निर्मला जैन की ‘ज़माने में हम’ (2015) आदि महत्वपूर्ण है। आज कल अंग्रेज़ी, पंजाबी, मराठी, मलयालम, बंगला आदि भाषाओं से अनूदित स्त्री आत्मकथाओं से हिन्दी आत्मकथा जगत समृद्ध हुआ जिनमें कमलादास, तहमीना दुर्रानी, अमृता प्रीतम, अजीत कौर, तसलीमा नसरीन, बेबी हालदार, नलिनी जमीला आदि की आत्मकथाएँ उल्लेखनीय हैं। ये आत्मकथाएँ अपने समय और समाज की सच्चाइयों का दस्तावेज है, साथ ही साथ स्त्री उत्पीड़न के विरुद्ध प्रतिरोध भी है।

हिन्दी की आत्मकथा साहित्य की परंपरा का विवेचन करने से हम कह सकते है कि हिन्दी का आत्मकथात्मक साहित्य विषय वस्तु और शैली की दृष्टि से पर्याप्त वैविध्यपूर्ण है। राजनीतिज्ञों, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्र से जुड़े हुए व्यक्तियों ने अपनी आत्मकथा प्रस्तुत करके आत्मकथा साहित्य को परिपुष्ट किया। भारतीय संदर्भ में दलित और स्त्री शक्तियों के प्रभाव से आत्मकथा का क्षेत्र ओर भी मज़बूत हुई। गुणात्मक तथा कलात्मक दोनों दृष्टियों से इस विधा की प्रगति उत्तरोत्तर बढती जा रही है। इन कृतियों के माध्यम से लेखकों के निजी जीवन के साथ-साथ उनके युग का सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक जीवन का भी प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होती है। यह भी नहीं जो आत्मकथाएँ उपलब्ध है, उनमें किसी न किसी तरह पाठकों को प्रभावित करनेवाली, प्रेरण देनेवाली बातें ज़रुर मिलती है।

निष्कर्ष

संक्षेप में कह सकते है कि साहित्य की विधाओं में परस्पर संबन्ध रखनेवाली अनेक विशेषताएँ देखने को मिलती है। क्योंकि आज जितनी भी साहित्यिक विधाएँ उपलब्ध है उन सबका विकास अपने पूर्वकालीन साहित्यिक विधाओं से हुआ है। परिवर्तनशील समाज ने परिवर्तशील साहित्य का भी जन्म दिया। अत्मकथा भी उसी प्रकार विकसित एक साहित्यिक रूप है। परिभाषा, तत्व, प्रकार और अन्य गद्य विधाओं के साथ उसके अंर्तसंबन्ध का सूक्ष्म अवलोकन करने के बाद हम कह सकते है कि अन्य साहित्यिक विधाओं की तरह 'आत्मकथा' ने भी साहित्य की मुख्यधारा में अपना स्थान पा लिया है आत्मकथा को अन्य विधाओं से अलग करनेवाली अपनी विशेषताएँ है।

संदर्भ सूची

1. प्रेमचन्द- कुछ विचार, पृ.6
2. Linda Anderson- Autobiography, p.18
3. डॉ. कमलेश सिंह- हिन्दी आत्मकथा स्वरुप एवं साहित्य, पृ.2
4. श्याम सुन्दरदास. बी.ए- हिन्दी शब्द सागर (प्रथम भाग), पृ.90
5. कमलेश- हिन्दी आत्मकथा स्वरुप एवं साहित्य, पृ.3
6. डॉ. हरिमोहन- साहित्यिक विधाएँ: पुनर्विचार, पृ.245
7. डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत- शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धान्त, पृ.508
8. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ.255
9. डॉ. श्याम सुन्दर घोष- साहित्य के नये रुप, पृ.18
10. डॉ. कमलेश सिंह- हिन्दी आत्मकथा स्वरुप एवं साहित्य, पृ.4
11. डॉ. बापूराव देसाई- गद्य की विविध विधायें, पृ.14
12. डॉ. पांडुरंग चिलगर- शैली विज्ञान: संकल्पना एवं स्वरुप, पृ.20
13. डॉ. हरिमोहन- साहित्यिक विधाएँ: पुनर्विचार, पृ.253
14. माधवी राजगोपालन- महादेवी और उनकी गद्य रचनाएँ, पृ.63
15. वही, पृ. 63
16. डॉ. हरिमोहन- साहित्यिक विधाएँ: पुनर्विचार, पृ.260
17. वही, पृ. 175
18. सूर्यप्रसाद दीक्षित- महादेवी का गद्य, पृ. 44

19. डॉ. कैलाश चन्द्र भाटिया- हिन्दी साहित्य की नवीन विधाएँ, पृ. 51

20. पंकज चतुर्वेदी- आत्मकथा की संस्कृति, पृ. 20

21. प्रेमचन्द- कुछ विचार, पृ. 18

22. आनंद सिंदल- आत्मकथाः साहित्य, सिद्धान्त और समीक्षा, पृ. 47

23. डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हरदयाल- हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 815

24. डॉ. कैलाश चन्द्र भाटिया- हिन्दी साहित्य की नवीन विधाएँ, पृ. 52

25. प्रज्ञा पाठक- सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी, पृ. 12

दूसरा अध्याय

स्त्रीपक्षीय चिंतन : एक सैद्धान्तिक विवेचन

स्त्रीपक्षीय चिंतन आज के सन्दर्भ में गंभीर विचार का केन्द्रीय मुद्दा रहा है। समाज में स्त्री के प्रति निषेध की भावना जब तक रहेगी तब तक स्त्रीपक्षीय चिंतन की मांग भी बढ़ती जायेगी। आज स्त्रीपक्षीय चिंतन स्त्रीवाद, स्त्री-मुक्ति आन्दोलन, स्त्री विमर्श, स्त्री साहित्य, स्त्रीवादी साहित्य आदि कई दिशाओं से होते हुए व्यापक धरातल पर अपनी जड़ जमायी है, और इन सभी के मूल में एक ही चिंतन दृष्टिगत होता है कि स्त्री के अस्तित्व को उसके मौलिक रुप में स्थापित करना।

2.1 स्त्री विमर्शः स्वरूप एवं अवधारणा

आज साहित्यिक जगत् में सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त शब्द है 'स्त्री-विमर्श'। उत्तरदायित्व और अधिकारों को बाँटने में स्त्री को रोक देनेवाली सामाजिक व्यवस्था के प्रति उनकी चुनौतियाँ कई साल पहले ही शुरु हुई थी। सदियों से पीड़ित स्त्री आज अपने बारे में सोच रही है और अपने अस्तित्व के प्रति जागृत होने लगी है। यही चेतना या जागृति ही 'स्त्री विमर्श' की आधारशिला है। स्त्री और पुरुष स्वतंत्र अस्तित्व रखनेवाले है। बल्कि हमारे समाज ने सिर्फ पुरुष के स्वतंत्र अस्तित्व को ही स्वीकार किया, स्त्री को अस्तित्व विहीन बना दिया। विभिन्न तरीके से उसे पराधीन करके विकास के हर दरवाज़े बन्द कर दिये। उसे दबा-कुचलाकर एक हीन प्राणी के रुप में प्रतिष्ठित किया। स्त्री की इस विडंबना के कारणों को ढूँढकर उसे पुरुष के समान हैसियत रखनेवाले व्यक्ति के रुप में प्रतिष्ठित करने के लिए स्त्री विमर्श का उदय हुआ।

2.1.1 विमर्शः परिभाषा

'विमर्श' चिंतन का ही एक रुप है। यह मूलतः गहन सोच-विचार, विचार-विनिमय तथा चिंतन-मनन को द्योतित करता है। भाषा विद्वान डॉ. हरदेवबाहरी के

अनुसार- 'विमर्श' का अग्रेज़ी समानार्थी शब्द 'consultation' है। जिसका अर्थ है 'किसी आदमी या किताब से संपर्क करना, परामर्शदाता के रुप में कार्य करना, विचार- विनिमय करना।"[1] नामवरसिंह ने 'विमर्श' को मिशेल फूको के 'डिस्कोर्स' का अनुवाद माना है। जिसका मतलब किसी एक वस्तु के बारे में लोगों के बातचीत करने के तरीके या- सोचने की पद्धति है। ये तरीके मिलजुलकर लोगों की सामान्य धारणा को बनाते है।"[2] क्रिस बार्कर के अनुसार- "विमर्श में ज्ञान की वस्तुओं की बोधगम्य तरीके से परिकल्पना करते हैं, संरचना करते हैं, निर्माण करते हैं, साथ ही तर्क के अन्य तरीकों को अबोधगम्य बनाते हैं।"[3] ज़ाहिर है विमर्श एक ऐसी संकल्पना है जिसके अंतर्गत संसार के किसी भी विषय पर तर्कसंगत होकर सूक्ष्मता से सोच- विचार और विनिमय हो सकता है, विविचन- विश्लेषण किया जा सकता है। इसीलिए इसका स्वरूप बहुत ही व्यापक है।

2.1.2 स्त्री विमर्शः परिभाषा एवं अवधारणा

स्त्री विमर्श से सीधा तात्पर्य है स्त्री के विषय में गंभीर चिंतन। समाज के समस्त क्षेत्रों में स्त्री की भूमिका, लिगं- भेद पर आधारित स्त्री उत्पीड़न, स्त्री- मुक्ति से जुड़ी सभी जटिल समस्याओं को चिन्तन का विषय बनाना ही स्त्री विमर्श है। प्रमुख्र लेखिका कात्यायनी के शब्दों में- "स्त्री विमर्श पुरुष और स्त्री के बीच नकारात्मक भेदभाव की जगह स्त्री के प्रति सकारात्मक पक्षपात की बात करता है। वस्तुतः इस रुप में देख्रा जाय तो स्त्री विमर्श अपने समय और समाज के जीवन की वास्तविकताओं और संभावनाओं की तलाश करनेवाली दृष्टि है।"[4]

समाज में स्त्री और पुरुष का स्वतंत्र अस्तित्व है। बल्कि हमारे समाज ने सिर्फ पुरुष का ही स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार किया, स्त्री को अस्तित्वविहीन बना दिया।

स्त्रियों के लिए निरंकुश एवं कठोर मूल्यों की स्थापना करके उसे पराधीन बनाकर विकास के हर वातायन बन्द कर दिया। स्त्री की इस विकराल अवस्था के कारणों को ढूँढकर उसे पुरुष के समान हैसियत रखनेवाले व्यक्ति के रुप में प्रतिष्ठित करना स्त्री विमर्श का मूल मंत्र है। इस प्रकार स्त्री उत्पीड़न के विभिन्न पहलुओं को समझने की दिशा में गतिशील और निरन्तर परिवर्तित होनेवाली विचारधारा है स्त्री विमर्श।

'स्त्री विमर्श' स्त्री अस्मिता की खोज है। सदियों से पीड़ित, शोषित, पराधीन और असम्मानित होकर जीनेवाली स्त्री जब अपने इस हकीकत के कारणों को ढूँढने लगी और अपने स्वत्व के बारे में चिंतित होने लगी तो तब से स्त्री विमर्श का भी उदय होने लगी। मतलब यह है कि स्त्री की यही आत्मबोध के प्रति जागृति ही स्त्री विमर्श की आधार बनी है। "स्त्री-विमर्श और कुछ नहीं अपनी 'अस्मिता' की पहचान, स्व की चिंता, 'अस्तित्व बोध' और अधिकार को जतलाने और बतलाने का विचार चिंतन है।"[5] उन्नीसवीं सदी के नवजागरण काल में हुए स्त्री उत्थान से जुड़े आन्दोलनों और समाज सुधारकों के प्रयासों ने स्त्री मुक्ति की जो नींव डाली उसे समकालीन स्त्री मुक्ति विचारकों और आन्दोलनों ने विस्तृत कैनवास पर प्रतिष्ठित किया। इन्हीं के फलस्वरूप स्त्री और उसकी स्थिति परिवर्तित होने लगी। आज वह अपने अस्तित्व के प्रति सजग है और वह उसे महसूस कर रही है। अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिए आज वह सेघर्षशील है। 'स्त्री विमर्श' के तहत स्त्री अपने अनजाने पीड़ा जगत को खुले आम प्रस्तुत करती है, अपने प्रतिरोध को आवाज़ देती है, कई सालों से दबाकर रखे गये अपने विचारों को शब्द देती है।

पितृसत्तात्मकता के प्रति आक्रोश है स्त्री विमर्श। पितृसत्तात्मक मूल्य व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष स्त्री विमर्श के केन्द्र में है। प्रभा खेतान ने 'उपनिवेश में

स्त्री' में पितृसत्ता को ऐसा परिभाषित किया है- "पितृसत्ता एक सामाजिक घटना है, हज़ारों साल से चली आई ऐसी व्यवस्था है, जिसमें स्त्री की अधीनस्थता सर्वविदित है। पितृसत्ता ने स्त्री को अपने ज्ञान की वस्तु बनाया। उसे साधन के रूप में प्रयुक्त किया। उसके नाम, रूप, जाति, गोत्र सब अपने संदर्भ में परिभाषित किए।"[6] सौकडों वर्षों से पितृसत्तात्मक मूल्य व्यवास्थिति के कारण ही स्त्री को दोयम दर्जे का स्थान मिला। संपत्ति, शिक्षा, सत्ता, राजनीतिक अधिकारों एवं सामाजिक अधिकारों से स्त्री को वंचित रहना पड़ा। स्त्रियों को हमेशा अपने अधीन रखने के लिए जितने भी नियम कायदे बना दिये है, वे सब मानवीयता पर आधारित नहीं बल्कि पुरुष समर्थक है। स्त्री विरोधी मूल्यों का निर्माण कर स्त्रियों को कठपुतली बनाकर पुरुषवर्चस्ववादी समाज ने उसकी अस्मिता को छीन लिया। स्त्री के खोए हुए अस्तित्व को वापस लाने में गतिशील है 'स्त्री विमर्श', विमर्श के कारण आज स्त्री पुरुषसत्तात्मक समाज के षड्यन्त्रों के रहस्य को समझ पाई है। समाज के हर क्षेत्र में अपने स्वत्व के बारे में सोचना- विचारना शुरु किया है। लंबे संघर्ष के बाद स्त्रियों को शिक्षा और संपन्ति के क्षेत्र में समान अधिकार तो मिले है फिर भी पितृसत्तात्मक मूल्यों का सामाजिक वर्चस्व अभी तक पूरी तरह से बदला नहीं है, इसलिए 'स्त्री विमर्श' को सतर्क रहना अनिवार्य है।

स्त्री विमर्श सिर्फ देह विमर्श नहीं है। समस्त विश्व अब स्त्री को देह से परिभाषित कर रहा है। पितृसत्तात्मक और पूँजीवादी व्यवस्था ने ऐसे समाज का निर्माण किया है जिसमें स्त्री व्यक्ति से वस्तू में बदल गई। समाज उसे एक वस्तु के रूप में देखने लगी। उसकी वैयक्तिक सत्ता निकाल दिया गया। स्त्री मुक्ति या स्त्री स्वतंत्रता को 'स्त्री देह' की स्वतंत्रता से व्याखायित किया गया और यह स्थापित

करने की साजिश रचा गया कि स्त्री सिर्फ एक शरीर मात्र है। इसलिए उसकी मुक्ति की बात भी इसी धरातल पर होनी चाहिए। लेकिन स्त्री विमर्श सिर्फ देह विमर्श नहीं है। रेखा कस्तवार के शब्दों में- "स्त्री विमर्श स्त्री की देह के धरातल पर मुक्ति की प्रयास के साथ-साथ उसके लिए सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्वतंत्रता एवं समानता की भी वकालत करता है।"[7]

स्त्री देह पर पुरुष के अधीशत्व स्त्री विमर्श नकारते है और स्त्री देह पर उसका अपना आधीकार और निर्णय का पक्षधर है। इसमें स्त्री शरीर के प्रति पुरुषों की जो भोगवादी दृष्टिकोण पर, स्त्री देह पर अधिकार स्थापित करने में तत्पर पुरुष मानसिकता पर, स्त्री देह को यौनशुचिता के कठोर नियंत्रण में रखनेवाले पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था पर आक्रोश है। अतः स्त्री देह विमर्श स्त्री विमर्श का एक पक्ष मात्र है, जिसका फलक बहुत ही व्यापक और विस्तृत है- "स्त्री के प्रश्न उसकी सिर्फ स्त्री होने की स्थिति से नहीं जुड़े है, स्त्री के वर्ग, श्रेणी, नस्ल, उसकी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थिति से जुड़ते हैं। इसलिए स्त्री के प्रश्न अन्तरानुशासनात्मक अध्ययन के विषय है। इतिहास, दर्शन, साहित्य की खाइयों के बारे में विचार करते हुए उनके पुनर्मूल्यांकन व नए सिरे से उनकी व्याख्या तक स्त्री विमर्श का फलक विस्तार पाता है।"[8]

स्त्री विमर्श 'पुरुष विशेधी' नहीं है। स्त्री विमर्श के संदर्भ में ऐसी धारणा प्रचलित है कि यह पुरुष विरोधी विचारधारा है। शुरूआती दौर में स्त्री विमर्श पुरुषविरोधी विचारों से प्रभावित होती दिखाई दे सकती है। क्योंकि पाश्चात्य स्त्रीवादी विचारधाराओं में से उग्रनारीवादियों के विचारों से प्रभावित होकर स्त्रियों ने अपने शोषक पुरुष को शत्रु के रूप में देखने लगा और उनसे विरोध करना शुरू

किया। लेकिन धीरे-धीरे उन धारणाओं में परिवर्तन होने लगा और वे समझ गई कि उनकी शोषित स्थिति के मूल में सिर्फ पुरुष नहीं पुरुषवर्चस्ववादी सामाजिक व्यवस्था है। इस तरह वे नए सिरे से अपनी समस्याओं पर विचार करने लगी और समझ लिया कि स्त्री को पुरुषों से मुक्ति नहीं पुरुषवर्चस्ववादी मानसिकता से मुक्ति चाहिए। जैसे रमणिका गुप्ता के शब्दों में- "नारी को पुरुष से मुक्ति नहीं पुरुष मानसिकता से मुक्ति चाहिए, जिसे स्त्री स्वयं भी पालती है, जब वह पूरुष बनने की इच्छा जाहिर करती है। जब तक स्त्री पुरुष मानसिकता से मुक्त नहीं होगी उसकी अस्मिता बेमानी होगी।"[9]

अधिकांश लोग स्त्री विमर्श को सिर्फ स्त्रियों की अड्डा मानती है। उनकी राय में स्त्री विमर्श स्त्रियों के लिए स्त्रियों द्वारा स्त्री मुक्ति की लड़ाई है। लेकिन भारतीय संदर्भ में स्त्री मुक्ति का प्रयास पुरुषों द्वारा ही शुरु किया था, और आज भी पूरुष लोग इस क्षेत्र में सक्रिय है। स्त्री अधिकारों के लिए, स्त्री उत्थान के लिए पुरुषों द्वारा चलाए गए आन्दोलनों और प्रयासों को अनदेखा नहीं कर सकते। साहित्य के संदर्भ में भी स्त्रीपक्षीयता को ध्यान में रखनेवाले, प्रेमचंद जैसे लेखकों के प्रयास को नकारा नहीं जा सकता है। इसमें फर्क यह होता है कि स्त्रियों द्वारा स्त्री विमर्श भुक्तभोगी होने के कारण स्वानुभूतिपरक होता है लेकिन पुरुषों द्वारा स्त्री विमर्श सहानुभूतिपरक होता है। शायद उसमें प्रामाणिकता की कमी देख सकती है। अनुभव की प्रामाणिकता की बात महादेवी वर्मा ने 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में ऐसे व्यक्त करती है कि- "पुरुष के द्वारा नारी चित्रण आधिक आदर्श बन सकता है। परन्तु अधिक सत्य नहीं, विकृति के अधिक निकट पहूँच सकता है, किन्तु यथार्थ के अधिक समीप नहीं। पुरुष के लिए नारीत्व अनुमान है नारी के लिए अनुभव, अतः अपने जीवन का जैसा सजीव चित्र

वह हमें दे सकेगी वैसा पुरुष बहुत साधना के उपरान्त भी शायद ही दे सके।"[10] फिर भी उन्होंने स्त्री विमर्श को पुरुष के लिए वर्जित क्षेत्र नहीं माना था। 'स्त्री विमर्श' स्त्री भी कर सकती है और पुरुष भी। स्त्री मुक्ति को चाहते हुए उसे मानवी के रूप में प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से विचार-विमर्श या लेखन के जरिए जो लेग प्रयास कर रहे है- चाहे स्त्री हो या पुरुष हो वह स्त्री विमर्श के अन्तर्गत आ जाएगा। इसलिए कह सकते है कि स्त्री विमर्श एक स्वतंत्र दृष्टिकोण है, जो एकांगी नहीं है, यह पुरुषों का विरोधी नहीं बल्कि उनकी अमानवीय व्यवहारों के प्रति विद्रोह है। जिसमें पुरुष के प्रति शत्रुता या प्रतिस्पर्धा की भावना नहीं है।

स्त्री विमर्श में स्त्री की अधीनस्थ स्थिति की पहचान, स्त्री-शोषण के विविध रूपों की पहचान, स्त्री शोषण के ऐतिहासिक कारणों का विश्लेषण, पितृसत्तात्मक मूल्य व्यवस्था का विरोध एवं स्त्री उत्पीड़न को समाप्त करने के लिए किए जानेवाले प्रयासों आदि स्त्री जीवन से जुडे तमाम प्रश्नों का अध्ययन, चिन्तन एवं मनन किया जाता है।

स्त्री विमर्श, स्त्रीवाद और स्त्री मुक्ति आन्दोलन ये तीनों अन्योन्याश्रित है अर्थात इसे एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता।

2.1.3 स्त्रीवाद और उसकी धाराएँ

'स्त्रीवाद' के लिए अंग्रेज़ी में प्रयुक्त शब्द है 'फेमिनिज़म'। "उन्नीसवीं सदी में काल्पनिक समाजवादी चिंतक चार्ल्स फूरिए ने पहली बार फ्रांसीसी शब्द 'फेमिनिज़म' का प्रयोग किया था।"[11] शुरु-शुरु में फेमिनिज़म का प्रयोग पुरुष-शरीर में स्त्री गुणों के होने अथवा स्त्री के पुरुषों की तरह व्यवहार के संदर्भ में किया

जाता था। 20 वीं सदी के प्रारंभिक दौर में अमेरिका में इस शब्द का प्रयोग कुछ महिलाओं के उस समूह के लिए किया गया जो स्त्रियों की एकता, मातृत्व के रहस्यों तथा स्त्रियों की पवित्रता इत्यादि मुद्दों पर एकजुट हुई थी। इसके बाद बहुत जल्दी ही इसका राजनीतिक प्रयोग उन प्रतिबद्ध महिला समूहों के लिए किया जाने लगा जो समाज में स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए संघर्ष कर रही थी। "फेमिनिज़म' के शब्दकोशीय अर्थ में जाएँ तो यह पुरुष और स्त्री के बीच सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक समानता के पक्ष में खड़ा हुआ एक आन्दोलन है।"[12] (Feminism is the movement for social, political and economic equality of men and women, Routledge International Encyclopedia of Women)

स्त्रीवाद एक विचारधारा है साथ ही साथ राजनैतिक आन्दोलन का एक सामाजिक सिद्धान्त भी। जो पूर्ण रुप से स्त्री मुक्ति चाहती है।

2.1.3.1 स्त्रीवाद के भेद

स्त्रीवाद के विकास के साथ-साथ उसके अन्तर विभिन्न दृष्टिकोण रखनेवाली स्त्रीवादी चिंतकों के प्रभाव से कई शाखाएँ विकसित होने लगी। जैसे लिबरल फेमिनिज़म, राडिकल फेमिनिज़म, मार्क्सवादी फेमिनिज़म, राडिकल लेसबियनिज़म, अस्तित्ववादी व मनोवैज्ञानिक फेमिनिज़म, सांस्कृतिक फेमिनिज़म, इको फेमिनिज़म, अश्वत नारीवाद आदि।

2.1.3.1.1 उदारवादी नारीवाद (Liberal Feminism)

स्त्री मुक्ति आन्दोलन के प्रथम चरण में विकसित नारीवादी विचारधारा है उदारवादी नारीवाद। यह फ्रांस की क्रांति द्वारा प्रेरित नारीवादी सिद्धान्त है। उन

लोगों ने मूल रूप से स्त्री-पुरुष समानता, महिला अधिकार, वैयक्तिक स्वतंत्रता, मुक्ति, न्यायबोध आदि मूल्यों पर जोर दिया। लिबरल फेमिनिज़म की राजनीति जॉन स्टुअर्ट मिल की किताब 'द सब्जेकशन ऑफ विमन' पर आधारित थी। उनके अनुसार स्त्री और पुरुष में जैविक भिन्नताएँ तो है बल्कि उनमें बौद्धिक या मानसिक क्षमताएँ एक समान होती है। इसलिए उन्हें समाज के हर क्षेत्र में समान अवसर दिये जाने चाहिए। वे जनतांत्रिक व्यवस्था के भीतर राजनीतिक और कानूनी प्रक्रियाओं के माध्यम से स्त्रियों की सामाजिक अधीनता की स्थिति का समाधान तलाशता है। मेरी वोलस्टनक्राफ्ट ने 1792 में लंदन से प्रकाशित अपने आलेख 'महिलाओं के अधिकारों का समर्थन' में स्त्री अधिकारों की वकालत की। उनकी मान्यता थी कि यदि स्त्री-पुरुष को समान शिक्षा दी जाए तो समाज में वे समान अवसर प्राप्त कर सकेंगी। इस तरह स्त्री शिक्षा पर ज़ोर दिया। इनके अलावा फ्रांस के आलिंबे डोगोष, हरियट टेलर, बेट्टी फ्रीडन आदि लिबरल फेमिनिज़म के प्रारंभिक प्रवर्तक माने जाते थे। 1966 में बेट्टी फ्रीडन के नेतृत्व में अमरिका में नाशनल ओर्गनइसेशन फार विमन (NOW) नामक संगठन की स्थापना हुई, जिसके ज़रिए उन्होंने शिक्षा और नौकरी के क्षेत्र में समान अधिकारों की माँग की। उदारवादी नारीवादियों ने महिलाओं के व्यक्तिगत अधिकार अर्थात समान नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष किया जिसके फलस्वरूप महिलाओं को मताधिकार मिला और अपने भविष्य का मार्ग प्रशस्त हुआ। इन उदारवादी नारीवादियों में अधिकांश सफेदपोशा मध्यवर्गीय स्त्रियाँ ही शामिल थी और इनके सुधारों का लाभ भी उन महिलाओं तक ही सीमित था। वे गरीब और अश्वेत महिलाओं की असमानता की समस्या को नहीं उठा पाये। इस प्रकार समाज में

मौजूद लिंगाधिष्ठित असमानता के मूल कारणों को खोज निकालने में उदारवादी नारीवाद असफल रहा।

2.1.3.1.2 उग्रवादी नारीवाद (Radical Feminism)

उग्रनारीवाद का उदय अमरिका में 1960 में नारीवाद के दूसरे चरण में हुआ। नव वामपंथी और नागरिक आन्दोलनों के अनुभवों से प्रभावित राडिकल नारीवाद ने पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध क्रान्तीकारी लड़ाई का आह्वान किया। इन्होंने पितृसत्तात्मक समाज के हर क्षेत्र में जैसे परिवार, धर्म, शैक्षिक संस्थाएं, आर्थिक और राजनीतिक आदि क्षेत्रों में संरचनात्मक परिवर्तन लाने की कोशिश की। उनका विश्वास था कि स्त्री केन्द्रित राजनीति ही औरतों के लिए समाज में स्थान बनाने की युक्ति निकाल सकती है। वे एक ऐसा राजनीतिक संगठन चाहते थे जो पुरुषवाद की विकृति से मुक्त हो। उदारवादियों ने स्त्री शिक्षा, रोजगार का अधिकार, मताधिकार और संपत्ति के अधिकार पर वकालत की थी तो राडिकल नारीवादियों ने स्त्री की देह और उसकी मुक्ति के प्रयोजन पर प्रकाश डाला। उदारवादी नारीवाद का परिमार्जित स्वरुप है राडिकल नारीवाद। इस धारा की चिंतकों में प्रमुख है जूलियट मिचेल, केट मिलेट, शूलामिथ फ़ायरस्टोन, सिमोन द बोउवार, रॉबिन मॉरगेन, जरमेन ग्रीयर आदि। इनमें सिमोन द बोउवार की 'द सेकेंड सेक्स' और शूलामिथ फायरस्टोन की किताब 'द डायलेटिक्स ऑफ सेक्स' में राडिकल नारिवाद की अवधारणा का विवरण दिया गया है। वे स्त्री-पुरुष संबन्ध की विषमताओं के मुख्य कारण जीववैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक मानते हुए उनसे मुक्ति के लिए मोर्चाबंद लडाई का रास्ता अपनाते हैं। वे मानते है कि स्त्रियों की दुर्दशा का कारण प्रजननात्मक और यौन संबन्धी शोषण है। इसलिए जब स्त्री प्रजनन संबन्धी दायित्वों

से मुक्त होगी तब उसे असली स्वतंत्रता मिलेगी। अर्थात वे परिवार, गर्भधारण की क्षमता, शिशु संरक्षण आदि को स्त्रियों के विकास में बाधक मानती है। अंततः "राडिकल नारीवाद, पुरुषाधिपत्य की सामाजिक व्यवस्था के यौन-शोषण को मिटाने का राजनीतिक अभियान है। यह स्त्रियों को प्रथम स्थान पर ले जाने की सिफारिश करता है, उनकी समस्याओं को प्रथम स्थान देता है, स्त्री-समलैंगिकता के प्रति सहानुभूति दिखाता है, स्त्रियों के बीच में आपसी साझेदारी एवं आदर की भावना प्रोत्साहित करके समस्त स्त्रियों के लिए आदरपूर्ण जीवन का सृजन करता है।"[13]

2.1.3.1.3 मार्क्सवादी नारीवाद (Marxist Feminism)

मार्क्सवादी नारीवाद का मूलाधार मार्क्सवादी सिद्धान्त है। इसकी मूल प्रपत्तियाँ फ्रेडरिक ऍगल्स की 'परिवार, निजी संपत्ती और राज्य का आविर्भाव' नामक कृति पर आधारित थी। वे महिलाओं के दमन का मूल कारण वैयक्तिक संपत्ती के प्रावधन और पूँजीवादी व्यवस्था के विकास को मानते हैं। पुरुषों के हाथ में संपत्ति की स्थापना ने महिलाओं को अस्तित्वहीन बना दिया। अल्कसांड्रा कॉलॉण्टायी, क्लारा सेटकीन, एम्मा गोल्डमान आदि प्रारंभिक मार्क्सवादी फेमिनिस्ट है। वे मानते थे कि पूँजीवाद के कारण उत्पन्न वर्ग शोषण महिलाओं के उत्पीड़न का मूल कारण है। परिवार में स्त्री, पुरुष की कामपूर्ति और वर्ग संचालन की एक मशीन मात्र है। ऐसी पारिवारिक व्यवस्था में पुरुष बूर्ज्वा और स्त्री मज़दूर की प्रतीक है। उन लोगों ने स्त्रियों की स्वतंत्रा हेतु स्त्रियों को घर के अवैतनिक काम छोडकर सामाजिक उत्पादन प्रक्रिया में भाग लेने को प्रेरित किया और पूँजीवादी व्यवस्था के खत्म करने के लिए आन्दोलन चलाने का आह्वान किया।

2.1.3.1.4 समाजवादी नारीवाद (Socialist Feminism)

समाजवादी नारीवाद स्त्री मुक्ति को वर्गसंघर्ष की अनिवार्य परिणति नहीं मानता। वे स्त्री समस्याओं को सिर्फ अर्थव्यवस्था तक सीमित नहीं किया बल्कि उनकी राय में स्त्री का शोषण, उसकी अस्मिता, लैंगिक विभाजन, पितृसत्तात्मक व्यवस्था की राजनीति आदि सभी बातों को ध्यान में रखकर स्त्री मुक्ति आन्दोलन चलाना है। फूरियर और सेंट सिमोनियम समाजवादी नारीवाद के समर्थक थे। शारलेट पार्किंस और जिलमैन ने स्त्रियों की पराधीनता के समाधन हेतु घरेलू काम के व्यवसायीकरण की सलाह दी है।

2.1.3.1.5 राडिकल लेसबियनिज़म

राडिकल लेसबियनिज़म मुख्य रुप से स्त्री शरीर पर केन्द्रित विचारधारा है। वे मानते है कि स्त्री की अधीनस्थता का प्रमुख कारण उसका शरीर है और स्त्री शरीर पर पुरुषों के आधिपत्य और शोषण को समाप्त करने के लिए स्त्री शरीर की वर्तुलुता को तोड़ना अनिवार्य है। फ्रांस के मोणिक विट्टिग, टेरिस डेलारिट्टिस आदि इस विचारधारा के प्रवर्तक है। स्त्री की लैंगिकता, गर्भधारण, मातृत्व आदि में पुरुषाधिपत्य को वे नकारते हैं। वे चाहते है कि स्त्री शरीर पर उसका अपना अधिकार हो। इस प्रकार इन्होंने यौनमुक्ति के क्षेत्र में एक नई क्रान्ति की शुरुआत की जिसका उद्देश्य है पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था की समाप्ति। उन्होंने तमाम परंपरागत यौन संहिताओं और वर्जनाओं के खिलाफ आवाज़ उठायी और कहा कि समलैंगिकता और नाजायज बच्चे पैदा करने में कोई बुराई नहीं है, विवाहपूर्व और विवाहेतर यौन संबन्ध में कुछ भी गलत नहीं है, औरत चाहे किसी भी व्यक्ति के साथ यौन संबन्ध

स्थापित कर सकती हैं। इस प्रकार शरीर और लिंग पर आधारित शोषण को समाप्त करने में यह स्त्रीवाद संघर्षरत रहा।

2.1.3.1.6 सांस्कृतिक नारीवाद (Cultural Feminism)

मैरी डेली और एड्रीन्नी रिच जैसी फ्रांसीसी सिद्धान्तकारों ने 'सांस्कृतिक नारीवाद की शुरुआत की। सांस्कृतिक नारीवाद उग्रनारीवाद से विकसित स्त्रीवादी विचारधारा है। "As radical feminism died out as a movement, cultural feminism got rolling. Radical feminism was a movement to transform society, cultural feminism related to vanguardism, working instead to build a women's culture."[14] 'स्त्री संस्कृति' को महत्व देनेवाला एक सांस्कृतिक दृष्टिकोण है यह। स्त्री के अधिकार, उसकी वैयक्तिक और सामाजिक व्यवहार को अधार बनाकर 'स्त्री संस्कृति' जैसे विचार पर जोर देते है। मातृत्व, आत्मीयता, समलैंगिकता, स्त्रियों के आपसी संबन्ध आदि स्त्री से संबन्धित जितने भी कार्य हो सब कुछ स्त्री संस्कृति के अंतर्गत आ जाती है। वे मानते है कि स्त्री की अपनी संस्कृति है, वह पुरुष संस्कृति से बिल्कुल भिन्न और सशक्त भी है। इसमें स्त्री अपने इतिहास और संस्कृति का पुनर्निर्माण करते हैं। इन्होंने स्त्री-पुरुष भिन्नता को पूरा महत्व देते हुए उसे स्त्री के गुणों को सशक्त बनाने के तरीके के रूप में अपनाया है।

2.1.3.1.7 पारिस्थितिक स्त्रीवाद (Eco Feminism)

पारिस्थितिक स्त्रीवाद, स्त्रीवाद की और एक शाखा है, जिसमें स्त्री एवं प्रकृति को एकसाथ रखकर देखा जाता है। सबसे पहले फ्रांशो डी आइबोण ने 1974 में प्रकाशित अपनी कृति 'फेमिनिज़म और डेथ' में 'इकोफेमिनिज़म' शब्द का प्रयोग

किया था, जो प्रकृति शोषण के विरोधी संगठनों और कार्यों के लिए उपयुक्त होकर प्रचलित हो गया।

स्त्रीवादी आन्दोलन के दूसरी लहर के समय में यह शाखा अस्तित्व में आई। इको फेमिनिज़म से संबन्धित नारीवादी विदुषियों में रोज़मेरी रैडफर्ड रूदर, वंदना शिवा, सूसन ग्रिफिन, एलिस वाकर, इवोने गेबारा, सुन आइ ली पार्क, मोनिका स्जू, ग्रेटा गार्द आदि के नाम प्रमुख है। प्रकृति और स्त्री के प्रति होनेवाले शोषण एवं अत्याचार को रोकना एवं उनका संरक्षण करना ही पारिस्थितिक स्त्रीवाद का लक्ष्य है। इसमें स्त्री को पारिस्थिति के साथ जोड़कर उसे शोषण से मुक्ति एवं पुरुष के समान अधिकार दिलाने का प्रयास है। वे प्रकृति तथा स्त्री दोनों के ऊपर पुरुष का जो आधिपत्य है उसे समाप्त करके एक संतुलित एवं स्वच्छ समाज की स्थापना करना चाहता है। पारिस्थितिक स्त्रीवादियों का दावा है कि चाहे स्त्री हो या प्रकृति उत्पीड़न के सभी रूप एक दूसरे से जुडे होते हैं। इसलिए उत्पीड़न की संरचनाओं को अलग-अलग नहीं बल्कि उनकी संपूर्णता में समझने की कोशिश करनी चाहिए। वे मानते है कि 'स्त्री ही प्रकृति है' इसलिए स्त्रियों पर होनेवाले अत्याचार जैसे बलात्कार, भ्रूणहत्या, मारपीट, यौनधंधा आदि स्त्री विरोधी कार्य, प्रकृति विरोधी भी है। वे प्रकृति केन्द्रित गतिविधियों के ज़रिए वनों की कटाई, प्रदूषण, पर्यावरणीय क्षरण जैसी समस्याओं और पितृसत्ता की कूटनीतियों की तरफ ध्यान आकर्षित करने में सफल हुआ है।

2.1.3.1.8 अश्वेत नारीवाद (Black Feminism)

अश्वेत नारीवाद, नारीवादी आन्दोलन की तीसरी लहर के रूप में सामने आई जिसकी शुरुआत का श्रेय रेबेकावाकर और रौनन लिस को दिया जाना चाहिए।

इसमें स्त्री संबन्धी प्रश्नों को सार्वभौमिक संदर्भ से अलग कर नस्ली, जातीय और जातिगत संदर्भों में परखने की कोशिश की है। अश्वेत नारीवाद को अंग्रेज़ी में आर.ई.आई फेमिनिज़म भी कहा जाता है। आर.ई.आई से तात्पर्य है रेस, एथ्निसिटि और इम्पीरियलिज़म। अश्वेत नारीवाद पश्चिम के गोरंग स्त्रियों के अनुभव से बिल्कुल भिन्न एक ऐसी धारा है जिसमें अफ्रो अमेरिकी मूल की काली औरतों के साथ-साथ एशियाई समेत अन्य सभी जातीयताओं और राष्ट्रीयताओं के नारीवादी विचार आते हैं। एलिस वॉकर द्वारा प्रतिपादित वुमनिज़म के सिद्धान्त अश्वेत नारीवादी आन्दोलन की आधारशिला मानी जाती है। उन्होंने व्यक्त किया कि अश्वेत स्त्री के जीवनानुभव श्वेत और मध्यवर्गीय स्त्रियों की अपेक्षा बिल्कुल भिन्न है और उनके शोषण के आयाम भी अधिक जटिल है। इसके प्रबल समर्थक मैरी एन वंदर ने 1969 में राडिकल नारीवादियों की पत्रिका 'नो मोर फन ऐंड गेम्स: अ जर्नल ऑफ फीमेल लिबरेशन' में लिखा कि "दुनिया की सभी स्त्रियाँ शोषण की शिकार हैं, यहाँ तक की श्वेत स्त्री भी। लेकिन भारत, मैक्सिको, प्यूरिटोरिको और अफ्रो अमेरिकी मूल की अश्वेत स्त्रियाँ, तिहरे शोषण की शिकार है।"[15] इस प्रकार अश्वेत नारीवादियों ने अपना सारा ध्यान नस्ल या जाति के इर्द-गिर्द केन्द्रित रखा और अन्य पहलुओं जैसे सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक पक्ष को अनदेखा किया।

इस प्रकार स्त्रीवाद की धाराएँ नए-नए प्रपत्तियों और कार्यप्रणालियों से संपुष्ट होकर विकसित होती दिखाई दे रहे हैं। बदलते सामाजिक सन्दर्भों के अनुसार इन विचारधाराएँ भी परिमार्जन और परिवर्द्धन के साथ स्त्री मुक्ति के रास्ते पर संघर्षशील है।

2.2 स्त्रीपक्षीय चिंतन : भारतीय सन्दर्भ

भारतीय समाज में एक तरफ स्त्री को महिमा मण्डित किया जाता है तो दूसरी तरफ उसे निकृष्ट भी मानती है। कहा जाता है कि भारतीय समाज में हमेशा से उनका स्थान गौरवपूर्ण रहा है। स्वामी विवेकानन्द ने पश्चिम की तुलना करते हुए कहा था- "पश्चिम की नारी पहले प्रेयसी है, फिर पत्नी, फिर माँ जबकि भारत की नारी पहले माँ है, फिर पत्नी, इसके बाद प्रेयसी।"[16] लेकिन व्यावहारिक तौर पर यह मान्यता स्त्री की अब तक पूर्ण रूप से नहीं मिली। वास्तव में वैदिककाल में स्त्रियों की स्थिति उतनी खराब नहीं थी। समाज के प्रत्येक कार्य में उसका समान अधिकार था। पुरुष के समान ही सभा, उत्सव और अन्य सामाजिक कार्यों में भाग लेने की उसे पूर्ण स्वतंत्रता थी। सच्चे अर्थों में वह पुरुष की अर्द्धांगिनी थी। इस काल में गर्गी, मैत्रेयी, अपाला, लोपामुद्रा जैसी विदुषियों का वैदिक संहिताओं के निर्माण में बड़ा हाथ था। लेकिन पितृसत्तात्मक व्यवस्था उस समय भी कायम थी। बौद्ध धर्म के काल में स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आने लगी। उत्तर वैदिक काल में स्त्रियों के ऊपर पतिव्रता का आवरण थोपा गया। सार्वजनिक कार्य से उसे दूर रखा गया, धर्म के नाम पर केवल व्रत और उपवास ही रख सकती थी। जब मध्यकाल में मुस्लिम आक्रमण हुआ तब स्त्रियों की स्थिति में बहुत बड़ा पतन हुआ। इसके बाद बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, बहु पत्नी प्रथा, सती प्रथा, शिक्षा से वंचित रखना आदि अन्यायों का बोल बाला था। आधुनिक काल में अंग्रेज़ों को आगमन से स्त्री की स्थिति में थोड़ा सुधार आया। समाज सुधारकों और स्त्री संगठनों द्वारा स्त्री उत्थान के लिए संघर्ष शुरू हुआ। आज भारतीय स्त्री अपने अधिकारों के प्रति सजग एवं सचेत हो चुकी है।

2.2.1 स्त्री मुक्ति आन्दोलन का भारतीय इतिहास

आज भारतीय स्त्री जिस स्वतंत्रता को महसूस कर रही है उसके पीछे कई सालों का संघर्ष है। जैसे भक्ति आन्दोलन, राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन, आधुनिक भारतीय नवजागरण एवं समकालीन स्त्री मुक्ति आन्दोलन का इसमें विशेष योगदान रहा है।

मध्यकाल में हुई भक्ति आन्दोलन का हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास में विशेष महत्व है। भक्ति आन्दोलन के आचार्यों, संतों एवं कवियों ने समाज सुधार के लिए काफी प्रयत्न किया था। उनमें कुछ महिलाएँ भी थी- आलवार भक्तों में एकमात्र महिला आण्डाल, कर्नाटक के अक्कमहादेवी, महाराष्ट्र की संत महिलाएँ जैसे मुक्ताबाई, जनाबाई, बहनाबाई, वेनाबाई, मीराबाई, लोकमाता अहल्याबाई आदि इनमें थी। जिन्होंने स्त्रियों के प्रति समाज की अवधारणाओं का विरोध किया। परंपरागत सामाजिक रुढ़ियों और मान्यताओं के विरुद्ध आवाज़ उठाने का साहस इन स्त्रियों ने किया जो सराहनीय है।

19 वीं सदी नवजागरण का युग है। असल में भारतीय नारी की मुक्ति का संघर्ष इस युग से शुरू होता है। नारी-उत्थान को लक्ष्य बनाकर कई भारतीय नेताओं और संगठन सामने आए। उन्होंने स्त्री शिक्षा के लिए आवाज़ उठाई और स्त्रियों के ऊपर थोपी गई सारी रुढियों के विरुद्ध सुधारवादी आन्दोलनों द्वारा संघर्ष करना शुरु किया। इन समाज सुधारकों में प्रमुख थे राजाराम मोहन राय, जिन्होंने सन् 1828 में ब्रह्मसमाज की स्थापना की और सामाजिक कुरीतियों से लड़ना शुरु किया। उनके परिश्रम से सन् 1829 में सती प्रथा रोकने का कानून लागू हो गया। बहुपत्नी प्रथा और बालविवाह के खिलाफ आवाज़ उठाई और विधवाओं के पुनर्विवाह पर ज़ोर

दिया। इस प्रकार स्त्री सशक्तीकरण के लिए राजाराम मोहनराय का योगदान महत्वपूर्ण है।

केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, श्रीनारायण गुरु, पेरियार आदि पुरोधाओं ने भी स्त्री की स्थिति बहत्तर बनाने के लिए अनवरत प्रयत्न किया। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के प्रयत्न से 26 जुलाई 1856 में हिन्दु विधवा पूनर्विवाह का एक्ट पारित किया। जिनके मुख्य बिन्दु है- "(1) यदि किसी स्त्री के पति की मृत्यू हो जाती है तो वह पुनर्विवाह कर सकती है। (2) इस विवाह में उसके सगे संबन्धी अर्थात माता, पिता, भाई, दादा, नाना, नानी आदि संबन्धियों के द्वारा बात करके दूसरे विवाह को मंजूरी दी जा सकती है यथा पुनर्विवाह करनेवाली महिला अल्पवयस्क है। (3) विवाह में सहमति का होना अत्यंत आवश्यक है। (4) जिस घर की वह पहले बहू थी अर्थात उसके मृत्यूवाले पति का घर उस पर उसका कोई संपत्ति के तौर पर अधिकार नहीं होगा, जहाँ वह पुनर्विवाह के बाद जाएगी वहाँ उसका अधिकार माना जाएगा।"[17] नारी उत्थान लक्ष्य करके स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की, जिसके ज़रिए स्त्रियों को वेदाध्ययन और संस्कृत अध्ययन की सुविधा मिली, बाल विवाह को रोकने का कार्य किया। महिलाश्रमों की स्थापना करके वहाँ अनाथ, परित्यक्ता, या विधवा स्त्रियों को आश्रय दिया। स्वामी विवेकानन्द और श्रीनारायण गुरु जैसे सन्तों ने स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन लाने के लिए अनेक क्रान्तिकारी कदम उठाये। श्रीनारायण गुरु ने अपने सामाजिक आन्दोलन में महिलाओं को भी शामिल किया और स्त्रियों को समाज की मुख्यधारा में लाने की कोशिश की। उन के सामाजिक आन्दोलन के

फलस्वरुप केरल में स्त्री शिक्षा का प्रसार हुआ, और अपने संगठन एस.एन.डी.पी के द्वारा स्त्रियों को अपने संपत्ति पर अधिकार दिलाने का प्रयास किया।

नवजागरण के सन्दर्भ में केरल में हुए 'चान्नार आन्दोलन' स्त्री अधिकार का प्रथम व्यवस्था विरोधी आन्दोलन था। केरल की निम्नजाति की स्त्रियाँ ऊँची जाति के लोगों के सामने अर्धनग्न होकर जाने के लिए मजबूर थी। सन् 1829 और 1859 में दक्षिण ट्रावनकूर में चान्नार समाज द्वारा चलाया गया चान्नार आन्दोलन के फलस्वरुप सन् 1859 जुलाई में हिन्दू चान्नार महिलाओं को ब्लाउज पहनने का अधिकार मिला। इस आन्दोलन से नारी अधिकार को लेकर चर्चा शुरु हुई।

पेरियार रामस्वामी नायकर ने स्वाभिमान आन्दोलन द्वारा अपने तमिल भाईयों से स्त्रियों की रक्षा करने के लिए आगे आने का आह्वान दिया। जाति व्यवस्था और पितृसत्ता द्वारा स्थापित मूल्यों का विरोध करते हुए स्त्री-पुरुष समानता के लिए कोशिश की।

मानवाधिकार के लिए संघर्ष करनेवाले ज्योतिबा फुले और बाबा साहब अंबेडकर ने स्त्रियों की हालत सुधारने के लिए भरसक कोशिश की। फूले ने अपनी पत्नी सावित्रीबाई को पढ़ाकर, स्त्री शिक्षा की वकालत की और केवल लड़कियों की पढ़ाई के लिए स्वतंत्र स्कूल खोलने की आवश्यकता पर जोर दिया। स्त्रियों के अधिकारों को प्राप्त करने की लड़ाई में डॉ.अंबेडकर का योगदान महत्वपूर्ण है जिन्होंने भारतीय संविधान और हिन्दु कोडबिल पास कराकर भारतीय स्त्रियों को अपने अधिकार दिलाने का ऐतिहासिक कार्य किया।

नवजागरण काल की सुधारवादी आन्दोलन में बहुत सी स्त्रियाँ भी शामिल थी जो स्त्री जागरण को केन्द्र बनाकर आगे आई। उनमें पंडिता रमाबाई उल्लेखनीय है

जिन्होंने अपनी रचनाओं और भाषण से महिलाओं को जागृत करने का प्रयास किया। उन्होंने स्त्री स्वालंबन और स्वतंत्रता पर बल दिया। विधवाओं और परित्यक्ताओं के लिए 'शारदा सदन' की शुरूआत की। थियोसोफिकल सोसाइटी की संस्थापिका श्रीमती एनी बेसेंट ने मद्रास में 'इंडियन वुमेन्स एसोसिएशन' की स्थापना करके स्त्रियों में जागृति लाने का प्रयास किया। सरोजिनी नायडू ने पहली बार स्त्री मताधिकार विषय पर बात की और स्त्री शिक्षा के प्रचार-प्रसार का कार्य किया जो सन् 1925 में काँग्रेस के अध्यक्ष पद पर आसीन होनेवाली प्रथम भारतीय महिला है उनके प्रयत्न से सन् 1926 ई में भारतीय महिलाओं को प्रथम बार चुनाव में भाग लेने का अवसर प्राप्त हुआ। श्रीमति सावित्रीबाई फूले ने विधवाओं की सन्तानों के संरक्षण के लिए 'बालहत्या प्रतिबंधक गृह' की स्थापना की और ज्योतिबा फुले द्वारा स्थापित 'सत्यशोधक समाज' का नेतृत्व बाद में उन्होंने संभाला और स्त्रियों को शिक्षित करने और उनको सामाजिक न्याय दिलाने के लिए आन्दोलन शुरु किया। मारग्रेट कज़िन्स ने आयरलैंड में 'स्त्री मताधिकार आन्दोलन' चलाने के बाद ही भारत में आई थी और 1917 ई. में उन्होंने यहाँ 'वीमैन्स इंडियन एसोसिएशन' की स्थापना की, जिसके द्वारा स्त्री मताधिकार के लिए संघर्ष करना शुरु किया। श्रीमती अचला बोस ने नारी शिक्षा समिति की स्थापना करके विधवाओं को शिक्षा की सुविधा दी और उन्हें आत्मनिर्भर बनाने के लिए विभिन्न घरेलू उद्योग-धन्धे सिखाए। राजकुमारी अमृत कौर, श्रीमती मुथ्थुलक्ष्मी रेड्डी आदि का योगदान भी इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी जी ने भी महिलाओं को ऊँचा, सम्मानजनक दर्जा प्रदान करने के पक्षधर थे। उन्होंने स्त्रियों को आज़ादी की लड़ाई में भाग लेने को

प्रेरित किया। असहयोग आंन्दोलन, डंडी मार्च, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, भारत छोड़ो आन्दोलन आदि में स्त्रियों को भी शामिल करके उनके आत्मविश्वास को बढ़ाया।

स्वाधीनता आन्दोलन के बाद स्त्रियों में जागरण आया। स्त्री उन्नति को ध्यान में रखते हुए कई संगठनों तथा संस्थाओं का आविर्भाव हुआ। इन संगठनों ने स्त्री के सामाजिक सुधार के साथ-साथ देश के अन्य मामलों की ओर भी ध्यान दिया। सन् 1973 में उत्तराखंड के गढ़वाल में हुए 'चिपको आन्दोलन' ठेकेदारों द्वारा पेड़ काटने के विरुद्ध स्त्रियों द्वारा चलाई गई आन्दोलन था। अपने जंगल को बचाने के लिए वहाँ की स्त्रियों ने तन-मन से लड़ाई की। सन् 1982 में हुई शराब बंदी आन्दोलन में स्त्रियों ने गाँवों में जाकर शराब की भट्ठियाँ तोडकर अपना विरोध प्रकट किया। समाज सेवी मेधा पाटकर के नेतृत्व में 1985 से संचालित 'नर्मदा बचाओ' आन्दोलन की अधिकतर स्त्रियाँ आदिवासी और ग्रामीण समाज की थी। इस आन्दोलन ने विस्थापित आदिवासी समाज की समस्याओं की ओर पूरे विश्व का ध्यान आकर्षित किया। भारतीय सैनिकों द्वारा स्त्रियों के प्रति होनेवाले बलात्कार और उत्पीड़न के विरुद्ध महिलाओं ने "भारतीय सेना आओ, हम सबको बलात्कार करो" जैसा नारा लगाकर 15 जुलाई 2004 के दिन असम राइफल्स के मुख्यालय के सामने निर्वस्त्र होकर प्रदर्शन किया था। स्त्रियों के ऊपर होनेवाले सैनिक अतिक्रमण को समाप्त करने के लिए मणिपुर की सशक्त महिला ईरोम शर्मिला ने कई सालों तक भूख हड़ताल की थी। इस प्रकार कई महिलाएँ हैं जो अकेले या संगठित होकर स्त्री समाज के लिए या मानवाधिकार के लिए आज भी संघर्षरत हैं। हमारे समाज के किसी भी क्षेत्र हो जैसे राजनीतिक, सांस्कृतिक, पारिवारिक या धार्मिक वहाँ स्त्री

समस्याओं से संबन्धित जितने भी सुधार आये हैं उन सबमें इन आन्दोलनों का गहरा असर है। लेकिन पितृसत्तात्मक व्यवस्था के जड़ीभूत मूल्यों की पकड़ से भारतीय महिलाओं को मुक्त करने के लिए अब भी ढेर सारे आन्दोलन की ज़रूरत है।

भारतीय स्त्रीमुक्ति आन्दोलन के इतिहास को परखने से हमें स्पष्ट होता है कि उन्नीसवीं सदी तक समाजसुधार और राष्ट्र मुक्ति की ओर उन्मुख स्त्री संघर्ष बीसवीं सदी के शुरू होते ही स्त्री अधिकारों के प्रति सचेत हुआ और व्यापक धरातल पर संघर्ष की शुरूआत की। यहाँ कभी भी पुरुषों के विरुद्ध लड़ाई नहीं हुई थी। बल्कि उसके साथ उसकी सहयोगिनी के रूप में कन्धे से कंधे मिलाकर समाज सुधार के लिए, देश की आज़ादी के लिए, स्त्री मुक्ति के लिए लड़ी और आज भी लड़ रही है।

विश्व में सब कहीं स्त्री विमर्श वहाँ के सामाजिक और सांस्कृतिक सन्दर्भ के अनुरूप होते हैं। पाश्चात्य देशों में भी चाहे यू. एस हो, ब्रिटन हो, फ्रान्स हो हर कहीं के स्त्रीवाद में भिन्नता देख सकते हैं। भारत के संदर्भ में भी यही स्थिति है। जैसे केरल की जैसी नहीं है पंजाब का स्त्रीवाद और पंजाब से भिन्न है असम की। पाश्चात्य स्त्रीवाद से भारतीय स्त्रीवाद की भिन्नता को स्पष्ट करते हुए भारत के प्रमुख स्त्रीवादी चिंतक उर्वशी बुटालिया कहती है- "यूरोप में स्त्रीवाद को कभी भी जातीयता से लड़ने की ज़रूरत न पड़ी इससे अलग वहाँ की लड़ाई वंशीयता के विरुद्ध है। भारतीय स्त्रीवाद, देश की जितने भी सामाजिक समस्याएँ है, उन सबसे जुड़ा हुआ है। गरीबी हटाओ आन्दोलन, नर्मदा बचाओ आन्दोलन आदि इसका उदाहरण है।"[18] इस प्रकार देखा जाए तो केरल में हुई समाज सुधार आन्दोलनों को स्त्री उत्थान में महत्वपूर्ण योगदान है। वर्तमान संदर्भ में समाज-सुधार के आन्दोलनों में

मेधा पाटकर, अरुणा रॉय तथा सुनीता कृष्णन जैसी स्त्रियों का प्रयत्न भी उल्लेखनीय हैं। स्त्री साक्षरता, स्त्री उत्थान एवं जागरण में केरल की 'कुटुम्बश्री' योजना अन्तर्राष्ट्रीय ख्यति प्राप्त की है। इस प्रकार भारतीय स्त्री जागरण की दिशाएँ पूरे विश्व में अपनी पहचान मज़बूत किया है। स्त्रियों के अधिकारों के लिए और स्त्री उत्थान के लिए विश्व भर में जो आन्दोलन या प्रयास चल रहे हैं उनसे भारतीय नारीवाद बहुत अधिक प्रभावित हुए हैं। लेकिन वह अपने आप में स्वतंत्र और विकास शील भी है। स्त्री विमर्श को पश्चिमी देशों से आयातित माननेवाली विचारधारा से असहमती प्रकट करते हुए डॉ.के.एम मालती जी स्पष्ट करती है- "भारतीय नारीवाद भारत की प्रबुद्ध नारियों और विचारकों के चिन्तन की उपज है जिसका प्रमुख ध्येय सामन्ती व्यवस्था द्वारा स्थापित गुलामी से स्त्री को मुक्त करना है। इसमें एक ओर पुरुषवर्चस्व एवं मनुवाद का विरोध है, दूसरी ओर भारतीय जीवन मूल्यों की नवीन सन्दर्भों में पुनर्व्याख्या एवं पुनः स्थापन का प्रयास भी है।"[19]

2.3 स्त्रीपक्षीय चिंतन : पाश्चात्य सन्दर्भ

आज का स्त्रीपक्षीय चिंतन जिसे 'स्त्री विमर्श' भी कहा जाता है, जिस रुप में विकसित और परिवर्द्धित है उसका एक सुनहरा अतीत भी है। पाकिस्तानी नारीवादी एक्टिविस्ट जाहिदा हिना का मानना है कि "स्त्री का इतिहास हर देश और व्यवस्था में कमोबेश एक सा है- तिरस्कृत, लांछित और दमित।"[20] अर्थात पश्चिम में भी स्त्री की स्थिति दीन-हीन, दीयम दर्जे की है। वहाँ भी स्त्री को एक व्यक्ति के रूप में नहीं देखा गया। सैकड़ों वर्षों की दासता, हीनता और उत्पीड़न से तड़पती नारी ने जागृत होकर मुक्ति के लिए संघर्ष करना शुरु किया और धीरे-धीरे अपने अधिकारों को पाने

के लिए आन्दोलन का रास्ता अपनाने लगी। इसे ही 'नारी मुक्ति आन्दोलन' की संज्ञा दी गयी। अंग्रेज़ी में इसे 'विमैन लिबरेशन मूवमैंट' कहा जाता है और आजकल यह 'विमैन लिब' नाम से जाना जाता है। और इस आन्दोलन के वैचारिक स्रोत है स्त्री विमर्श या स्त्रीवादी चिंतन। अर्थात आज के स्त्रीपक्षीय चिंतन को स्त्री मुक्ति आन्दोलन से पृथक करके नहीं देख्रा जा सकता।

2.3.1 स्त्री मुक्ति आन्दोलन का पश्चिमी इतिहास

सर्वप्रथम पश्चिम में ही स्त्री अधिकारों के लिए नवीन चेतना का विकास होने लगा। अतः पश्चिमी देशों में नारी-मुक्ति आन्दोलन का अपना एक इतिहास है। 18 वीं शती के मध्य में जब सामंती व्यवस्था के विरुद्ध आवाज़ उठने लगी उसी के साथ ही स्त्री मुक्ति संबन्धी विचार भी उठने लगा। स्त्रियों ने संगठित होकर अपने ऊपर होनेवाले अत्याचारों के विरुद्ध संघर्ष करना शुरु किया और अपने अधिकारों की माँग करने लगी। इसी सन्दर्भ में अमेरिका के सराह हेल का विशेष योगदान है। वे विश्व नारी मुक्ति आन्दोलन की पहली प्रवर्तक महिला के रूप में विख्यात है। 'लेड़िज़ मेगजीन' नामक पत्रिका के ज़रिए उन्होंने स्त्री मुक्ति चेतना का प्रसार किया और स्त्री अधिकारों के लिए आन्दोलन भी चलाया। सन् 1791 में ओलिम्पी दी गूजे ने 'मनुष्य और नागरिक के अधिकारों की घोषणा' तैयार करके राष्ट्रीय असेम्बली के समक्ष प्रस्तुत किया। 18 वीं शताब्दी के अन्त तक आते-आते स्त्रियाँ अपने अधिकारों की आवाज़ बुलन्द करने लगी। उस समय के स्त्रीवादी चिंतकों जैसे अफ्रा वैन, सुसान ऑकिन, हारिप्फ जेलर, जॉ ऑतुआँ कोन्दोर्से, ओलिंपी दि गूजे, मर्सी वारेटन एबिगेल एडमस, मेरी वोलस्टन क्राफ्ट, जॉन स्टुअर्ट मिल आदि के अथक परिश्रम तथा आन्दोलनों के फलस्वरूप स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के लिए कानूनी

प्रावधानों में बदलाव किए गए। जैसे 1791 के कानून द्वारा स्त्री शिक्षा का प्रावधान किया गया, 1792 की एक विज्ञप्ति द्वारा स्त्रियों को कई नागरिक अधिकार प्रदान किया गया, 1794 में कन्वेंशन द्वारा पारित कानून द्वारा तलाक की प्रक्रिया को आसान बना देना आदि। फिर भी मताधिकार प्राप्त करने के लिए स्त्रियों को कई साल तक इन्तज़ार करना पड़ा।

'मेरी वालस्टन क्राफ्ट' ने ईंग्लैण्ड में नारी के अधिकारों के लिए आवाज़ उठाई थी। उसे आधुनिक स्त्री मुक्ति आन्दोलन की सूत्रधार कहा जाता है। वे सन् 1783 में लंडन में लड़कियों के लिए एक स्कूल की स्थापना के साथ ही स्त्रियों के सामाजिक उत्थान में कार्यरत हुई। 1792 में 'ए विन्डिकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ विमन' नामक किताब के द्वारा स्त्री मुक्ति विचारों को प्रोत्साहन दिया जिसे फेमिनिज़्म की नींव मानते हैं। इसके बाद 1844 ई. में फ्रांस की 'फ्लोरा ट्रिस्टन' ने महिलाओं की माँगें प्रस्तुत करने के लिए एक महिला संगठन की स्थापना की। सन् 1848 में सिनेका फाल्स न्यूयार्क में महिलाओं के लिए प्रथम 'नारी अधिकार कॉंग्रेस' हुई जिसमें नारी स्वतंत्रता पर एक घोषणा पत्र जारी की गई। इसी संदर्भ में 8 मार्च, 1857 को न्यूयार्क की सड़कों पर कपड़ा मिलों की कामगार स्त्रियों ने अधिक वेतन और काम के घण्टे घटाने की माँग को लेकर प्रदर्शन किया। यह विश्व में महिलाओं का प्रथम प्रदर्शन था। इस घटना की याद में आज भी 8 मार्च के दिन को 'अन्तर्राष्ट्रीय महिला संघर्ष दिवस' के रूप में मनाया जाता है। सन् 1865 में संवैधानिक रूप से दास प्रथा समाप्त कर दी गई और नव मुक्त अश्वेत लोगों को मताधिकार भी दिया गया लेकिन स्त्रियों को नहीं मिला। सन् 1869 में 'नेशनल वुमन सरफ्फराज एसोसिएशन (NWSA) और अमेरिकन वुमन सरफ्फराज

एसोसिएशन (AWSA) जैसे संगठित संस्थाएँ सामने आई। इन दोनों मिलकर 1870 को नेशनल अमेरिकन वुमन सरफ्फराज एसोसिएशन (NAWSA) की स्थापना की। इन संगठनों के प्रभाव से अमेरिकी नारी मुक्ति आन्दोलन में एक नई मोड़ आई।

इंगलैण्ड में जॉन स्टुअर्ट मिल (1805-1873) ने अपनी पुस्तक 'द सब्जेकशन ऑफ विमेन द्वारा नारी मुक्ति और उसके मताधिकारों के लिए आवाज़ उठाई। अमेरिका में सन् 1865 ई. में ऐलिजाबेथ मिलर, लूसी स्टोन आदि ने स्त्री मुक्ति आन्दोलन की शुरुआत की। 1869 में 'हेग' में महिलाओं की एक युद्ध विरोधी अन्तर्राष्ट्रीय कार्न्फेस हुई। इसी बीच फ्रांस में भी समान अधिकार एवं स्त्री-मुक्ति के लिए आन्दोलन चलने लगी। परिणामस्वरुप नारी-क्लबों की स्थापना हुई और स्त्रियों के लिए राजनीतिक अधिकारों के लिए आवाज़ उठाई गई। इसी संदर्भ में कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक ऐंगेल्स का उदय हुआ। उन दोनों चिंतकों के सिद्धान्तों ने समाज को नए ढंग से सोचने को विवश किया। ऐंगल्स का "परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति' नामक रचना स्त्रीपक्षीय दृष्टि से महत्वपूर्ण माना जाता है। इस प्रकार 19 वीं सदी के मध्य तक स्त्री-मुक्ति आन्दोलन पूरे पश्चिम में फैल गया और इन आन्दोलनों में मुख्य मुद्दा मताधिकार का प्रश्न था। इसके फलस्वरुप स्त्री संगठनों द्वारा माँगा गया मताधिकार आंशिक रुप से ब्रिटेन में 1869 में नगरपालिकाओं को टैक्स अदा करनेवाली स्त्रियों को मिला। अमेरिका में सन् 1910 में आंशिक रूप से महिलाओं को मताधिकार प्रदान किया और अन्ततः सन् 1920 में राष्ट्रव्यापी स्तर पर वोट देने का अधिकार प्राप्त हुआ। ब्रिटन में यह 1928 को प्राप्त हुआ वह भी 'नेशनल यूनियन ऑफ वूमेन्स सरफ्फराज सोसाइटिस' (NUWSS) और 'वूमेन्स सोसिअल एण्ड पोलिटिकल यूनियन' (WSPU) आदि संगठनों के संघर्ष से।

इस तरफ फ्रॉस में भी सन् 1946 में मताधिकार प्राप्त हुआ। इस तरह लंबे संघर्ष के बाद बीसवीं शताब्दी के मध्य तक अधिकतर पश्चिमी देशों में स्त्रियों को वोट देने का अधिकार मिल चुका था। इसी बीच 'संयुक्त राष्ट्र संघ' अस्तित्व में आई और संघ ने विश्व भर की स्त्रियों को समान राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक व शैक्षणिक अवसर प्रदान करने के उद्देश्य से स्त्रियों की सामाजिक स्थिति संबन्धी आयोग का गठन किया। सन् 1945 में पेरिस में 'वूमेन्स इन्टरनेशनल डेमोक्रेटिक फेडराशन' की स्थापना करके संसार के सभी देशों के स्त्री आन्दोलनों को संगठित कर संघर्ष करने का अभियान चलाया गया। प्रसिद्ध फ्रेंच लेखिका सीमोन द बोउवार की किताब 'सेकण्ड सेक्स' सन् 1949 में प्रकाशित किया तो पूरे विश्व में स्त्री विमर्श को नई दिशा मिली। इसके बाद बेट्टी फ्रीडन की अध्यक्षता में सन् 1966 में नेशनल आर्गनाइजेशन ऑफ वुमैन (NOW) की स्थापना हुई, जिसके ज़रिए स्त्री अधिकारों की स्थापना की माँग करने लगी। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पश्चिम में स्त्रियाँ चारदीवारी की कैद से बाहर आ गई। वे विश्व शान्ती के लिए कार्य करने लगीं और युद्धों के विरुद्ध आवाज़ उठाने लगी। सन् 1975 को संयुक्त राष्ट्र संघ ने 'महिला वर्ष' घोषित किया और 1985 को अन्तर्राष्ट्रीय 'महिला दशक' के रूप में मनाया गया। इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर स्त्रियों की समस्याओं को नए सिरे से देखा गया, और इसका नारा था- समानता, विकास और विश्व शान्ति। आज भी पश्चिम की स्त्रियों और स्त्री संगठनों द्वारा स्त्री मुक्ति के लिए कई योजनाएँ बनाई जा रही है और संघर्ष भी कर रही है।

2.3.2 स्त्री मुक्ति आन्दोलन में प्रेरक पश्चिमी साहित्य

पश्चिम के नारीमुक्ति आन्दोलन को दिशा देने में कुछ स्त्रीपक्षीय चिंतकों और उनकी रचनाओं की भूमिका उल्लेखनीय है। आज जिस स्त्री-विमर्श की चर्चा कर रही है, उस प्रकार का स्त्री-विमर्श पाश्चात्य साहित्य में प्रथम बार मेरी वोलस्टन क्राफ्ट की पुस्तक 'द विंडिकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ वूमैन' (1772 ई.) में दिखाई देता है। स्त्री मुक्ति आन्दोलन के सन्दर्भ में यह एक महत्वपूर्ण दस्तावेज़ है। उन्होंने अपनी पुस्तक के ज़रिए स्त्रियों के इस दोयम दर्जे की स्थिति के लिए जिम्मेदार होनेवाले सामाजिक व्यवस्था पर प्रश्न चिह्न लगाया। मौजूदा शिक्षा प्रणाली की व्याख्या की, साथ ही समाज में समानता की अवधारणा के नकली मापदँड पर भी सवाल उठाया। प्रस्तुत किताब के ज़रिए उन्होंने रूसो के विरुद्ध लिखकर संपूर्ण यूरोपीय जनता को अपनी ओर आकर्षित किया। वे स्पष्ट करते है कि चाहे किसी भी स्तर हो स्त्रियाँ पुरुषों से कमज़ोर नहीं है; विशेषकर बौद्धिक मामलों में। इस प्रकार उन्होंने पुरुषों के समान स्त्रियों का भी समानाधिकार की वकालत की।

ब्रिटन में जॉन स्टुअर्ट मिल ने 1851 ई. में स्त्रीविमर्श को आधार बनाकर 'द सब्जेकशन ऑफ वुमैन' (स्त्रियों की पराधीनता) नामक पुस्तक का प्रकाशन किया। जिस में उन्होंने स्त्रियों की अधीनता के कारणों को बेबाकी से प्रस्तुत किया है। वे स्त्रियों की पराधीनता को प्राचीन दासता की परंपरा मानते हैं। स्त्रियों पर थोपी गई सारी नकली मान्यताओं का उन्होंने कटु विरोध किया और कहा कि स्त्री की सामाजिक पराधीनता ही उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व और सर्जनात्मकता को नष्ट कर देती है। उन्होंने स्त्री शिक्षा पर ज़ोर दिया स्त्रियों के आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक अधिकार की माँग की।

1884 ई. में मार्क्स की विचारधारा से प्रभावित होकर एंगेल्स ने 'परिवार, निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति' नामक पुस्तक लिखी, जिसकी स्त्रीवादी विमर्श में विशेष भूमिका है। उन्होंने स्त्री-मुक्ति के प्रश्न को आर्थिक स्वतंत्रता के साथ जोड़कर देखा। इसमें वे मानते है कि वैवाहिक जीवन में आर्थिक श्रेष्ठता ही पुरुष की श्रेष्ठता है। अगर आर्थिक श्रेष्ठता समाप्त हो जाए तो पुरुष की श्रेष्ठता समाप्त हो जाएगी। अपनी इस रचना में उन्होंने स्त्री को घर की चार दीवारी से बाहर, एक मज़दूर के रुप में परिवर्तित करने की कोशिश की है- जो नारी मुक्ति की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

पश्चिम में एक नए ढंग के नारीवादी विमर्श का सूत्रपात करनेवालों में अमेरिकन लेखिका 'बेट्टी फ्राइडन' का नाम विशेष महत्व रखता है जिन्होंने 'दि फेमिनिन मिस्टिक' (1963 ई.) नामक अपनी रचना में अमेरिकन महिलाओं की दयनीय स्थिति पर विचार प्रस्तुत किया। उन्होंने यह घोषणा की कि नारी जीवन का उद्देश्य सिर्फ अपने नारीत्व की आकांक्षाओं को पूरा करना है। स्त्री शिक्षा को बढ़ावा दिया और परंपरागत नैतिकता बोध को ध्यान में रखकर घर की चारदीवारी के बाहर स्त्री की स्वतंत्रता और उसकी उपलब्धियों की संभावनाओं पर प्रकाश डाला। इस प्रकार उन्होंने स्त्रियों में अस्तित्व बोध की जागृती की, स्त्रियों के अधिकार को पुरुषों के अधिकार के बराबर माना, स्त्री शरीर पर स्त्री का अपना ही अधिकार हो, इस तथ्य पर बल दिया। उन्होंने स्पष्ट बताया कि जब औरत के प्रति समाज का दृष्टिकोण बदलेगा तभी स्त्री मुक्ति संभव हो सकेगी।

फ्रांस की प्रसिद्ध नारीवादी लेखिका सीमोन द बोउवार की कृति 'दि सेकेंड सैक्स' 1949 ई. में प्रकाशित हुई। उन्होंने स्त्रीवादी विमर्श पर नए ढंग से विचार

किया, और प्रस्तुत किताब के ज़रिए स्पष्ट बताया कि ‘स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि बनाई जाती है।’ अर्थात समाज ही उसे स्त्री के रूप में बनाती है। उनकी राय में स्त्री का शरीर ही उसकी गुलामी का कारण है और नारी मुक्ति की अनिवार्य शर्त के रूप में नारीपन से मुक्ति मानी गई। पितृसत्ता के विरुद्ध उन्होंने आक्रोश व्यक्त किया और मातृत्व को भी नकारा क्योंकि उनकी राय में मातृत्व स्त्री को गुलाम बनाने का सशक्त माध्यम है।

उग्रनारीवाद के समर्थन करनेवाली लेखिका कैट मिलैट ने 1970 ई. में ‘सेक्सुअल पोलिटिक्स’ नामक किताब के द्वारा अपने स्त्रीविमर्शीय विचारों को विस्तार से प्रस्तुत किया। उन्होंने पितृसत्तात्मकता का उग्र विरोध किया और परिवार को पितृसत्तात्मकता का प्रमुख संस्था मानी। उनकी राय में बच्चे पितृसत्ता की जानकारी परिवार से प्राप्त करते है। उन्होंने यौन शोषण और प्रजनन को भी अपने विमर्श में जोडकर यौन क्रान्ति का भी आह्वान किया और फ्री सेक्स तथा लेस्बियनिज्म का समर्थन किया।

सूलोमिथ फायरस्टोन की पुस्तक ‘दि डायलेक्टिक्स ऑफ सैक्स्’ भी एक अलग ढंग के स्त्री-विमर्श को प्रस्तुत करती है। उसमें विशेष रूप से औरतों की प्रजनन से संबन्धित चर्चा सर्वाधिक हुई है। उन्होंने स्त्री-पुरुष भेदभाव का कारण शारीरिक माना और औरतों के जीवन का लक्ष्य लिंग-भेद को पूरी तरह समाप्त करना बताया। उनकी राय में महिलाओं के उत्पीड़न की आत्मा उनके द्वारा बच्चे पैदा करने तथा बच्चे के पालन-पोषण करने में है साथ ही साथ वे प्रेम को भी नारी उत्पीड़न का एक बड़ा कारण मानती हैं।

उग्र नारीवादियों में प्रमुख्र जर्मन गीयर की पुस्तक 'विद्रोही स्त्री' (1971 ई.) में उन्होंने पितृसत्तात्मक व्यवस्था को समाप्त करने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया। इसके ज़रिए उन्होंने औरतों के ऊपर होनेवाले सब अत्याचारों के विरुद्ध आवाज़ उठाने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने अपनी कृति में स्त्री के शारीरिक सर्वेक्षण करके उसके अवयव संबन्धी सारे मिथकों को तोड़ने का प्रयास किया और सुधारवादी आन्दोलन के बदले क्रांतिकारी आन्दोलन का आह्वान किया।

स्त्री मुक्ति संबन्धी विचारों से ओतप्रोत इन साहित्यिक रचनाओं ने स्त्री विमर्श को ऊर्जा प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

पाश्चात्य स्त्री मुक्ति आन्दोलनों और स्त्री विमर्श से संबन्धित विभिन्न चिंतकों के विचारों का अवलोकन करने से हमें पता चलता है कि 19 वीं शताब्दी से लेकर 20 वीं शताब्दी के प्रारंभ तक स्त्री मुक्ति आन्दोलन मुख्यतः मताधिकार पर केन्द्रित रहा। इसके परिणाम स्वरूप इन्हें मतदान का अधिकार भी प्राप्त हुआ। मेरी वोलस्टन क्राफ्ट तथा जे.एस मिल जैसे नारीवादियों ने जिन जनतांत्रिक अधिकारों के लिए आवाज़ उठाई थी उनमें भी एक हद तक सफलता मिल गई। बेट्टी फ्राइडन की विचारों से प्रभावित नारी मुक्ति आन्दोलन अपने मूल उद्देश्य से भटककर अतिवादी रूप धारण किया धीरे-धीरे यह अनिश्चितता और अनिर्णय की स्थिति में आ पहूँचा। इनसे प्रभावित होकर वहाँ की स्त्रियाँ अपने आपको हर प्रकार के बन्धन-परिवार, पति, बच्चे, विवाह आदि से मुक्ती की माँग करने लगी और पुरुष वर्चस्व को समाप्त करने के लिए यौन स्वतंत्रता पर ज़ोर दिया, और उनकी लड़ाई सिर्फ पुरुष विरोधी लडाई के रूप में बदल गई। आज हम देख्र सकते है कि अमेरिका जैसे देशों में इन पुरुषविरोधी नारीवादी आन्दोलन अब अपने जड़ों की ओर

लौटने का आग्रह करती है इतनी सारी लड़ाइयों के बावजूद भी पुरुषों का वर्चस्ववादी ढाँचा अब भी समाज में कायम है। सामाजिक भेदभाव एवं अन्याय को दूर करने की लड़ाई अभी बाकी है, इसके लिए स्त्री-पुरुष दोनों को एकसाथ लड़ना है।

2.4 स्त्री विमर्श : साहित्यिक परिप्रेक्ष्य

आज स्त्री विमर्श पूरे विश्व में साहित्य का एक प्रमुख मुद्दा बनकर आगे बढ़ रहा है। साहित्यकार भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से स्त्री के संबन्ध में तर्कसंगत सोच-विचार या विमर्श प्रस्तुत कर रहे हैं। वर्तमान संदर्भ में जो स्त्रीपक्षीय चिन्तन मनन चल रहा है, उससे पहले भी साहित्य में ऐसे विचार-विमर्श होते थे लेकिन आज की तरह क्रियाशील नहीं थे। साहित्य एक ऐसा माध्यम है जिसके ज़रिए सामाजिक परिवर्तन संभव हो सकता है। जब समाज में स्त्रियों की पीड़ा चरम सीमा तक पहूँचने लगी तो साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के ज़रिए उस पर सोच-विचार करना शुरु किया। पहले ही स्त्री, साहित्य का केन्द्रीय विषय था और आज भी। लेकिन फर्क इतना है कि पहले के साहित्य में स्त्री को कभी देवी के रूप में कभी आदर्श पत्नी के रूप में, दासी के रूप में, वस्तु अथवा भोग्या के रूप में, माँ के रूप में प्रस्तुत होती थी। स्त्री को स्त्री के रूप में प्रस्तुतीकरण आज के स्त्रीपक्षीय चिन्तन की उपलब्धी है।

समकालीन स्त्री विमर्श के अंतर्गत दो महत्वपूर्ण धाराएँ उभरकर सामने आ रही है। वे है- स्त्री साहित्य और स्त्रीवादी साहित्य। 'स्त्री साहित्य' की अवधारणा साहित्य की अवधारणा से बिलकुल भिन्न है। स्त्री साहित्य, स्त्री की आत्माभिव्यक्ति का साहित्य है। उसमें स्त्री की अनुभूति को जगह मिलता है। उनकी ये अनुभूतियाँ कई सालों तक दबाकर रखा था। क्योंकि पितृसत्तात्मक समाज में उसे आत्माभिव्यक्ति

की स्वतंत्रता नहीं थी। धीरे-धीरे स्त्री अपनी ख़ामोशी को तोड़कर साहित्य के क्षेत्र में अपनी नई पहचान बना रही है। स्त्रियों द्वारा किसी भी विषय पर लेखनी चलाए तो उसे स्त्री साहित्य की कोटी में रखा जा सकता है। उसमें सिर्फ स्त्री के अनुभवों का प्रस्तुतीकरण होता है। अनुभव की प्रामाणिक अभिव्यक्ति पर बल देने के कारण 'स्त्री साहित्य' सिर्फ स्त्री ही कर सकती है। 'स्त्री साहित्य' एक व्यक्ति के रूप में स्त्री के अस्तित्व को स्थापित करने में, उसके अनुभवों, संवेदनाओं और विचारों को अभिव्यक्ति देने में, स्त्री-समाज में स्वत्व बोध की चेतना जगाकर उसे आगे बढ़ाने में मदद करती है।

'स्त्रीवादी साहित्य' के अंतर्गत स्त्री और पुरुष का लेखन शामिल किया जाता है। जो सिर्फ स्त्री के इर्द-गिर्द, उनकी समस्याओं और उनके अधिकारों के लिए लिखा गया हो, ऐसा साहित्य स्त्रीवादी साहित्य की कोटी में रखा जा सकता है। इसमें अनुभव के साथ-साथ स्त्रीवादी राजनीति पर अधिक बल दिया जाता है। "स्त्रीवादी से तात्पर्य उस स्त्री या पुरुष से है जो राजनैतिक या सामाजिक चेतना से युक्त हो और आन्दोलन से जुड़कर या बिछुडकर समता के लिए प्रयत्नरत रहे, स्त्रीवाद पर लेखनी चलाये या अपने आपको स्त्रीवादी माने।"[21] (By Feminists, we mean each and every politically and socially conscious woman or man who works for equality within or outside the movement, writes about feminism, or calls her- or himself a feminist) यह स्त्री-पुरुष समानता की वकालत करता है, और समाज में स्त्रियों के प्रति होनेवाले हीन दृष्टिकोण में बदलाव के लिए प्रयत्न करते हैं, और उसे पूरे अधिकार प्राप्त करके एक व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए संघर्ष करता है। जगदीश्वर चतुर्वेदी ने 'स्त्री साहित्य' और 'स्त्रीवादी साहित्य'

के अंतर को यों स्पष्ट किया है- "स्त्री साहित्य वह है जो स्त्री रचित है। किन्तु 'स्त्रीवादी-साहित्य' स्त्री-पुरुष दोनों का लिखा हो सकता है। यह ऐसा साहित्य है जो स्त्री के हितों एवं स्त्रीवादी राजनीति का पक्षधर होता है।"[22] इस तरह एक ओर 'स्त्री साहित्य' के ज़रिए स्त्रियाँ अपनी अनुभूतियों को शब्द दे रही है और साहित्य के क्षेत्र में अपने पदछाप स्थापित करने में सफल हुई है। दूसरी तरफ स्त्रीवादी साहित्य भी स्त्री पक्ष को केन्द्र में रखकर उसकी पूर्ण मुक्ति के लिए संघर्षरत है।

2.4.1 हिन्दी साहित्य में स्त्री विमर्श

हिन्दी साहित्य की शुरूआती दौर में स्त्री सिर्फ 'विषय' मात्र थी, वह भी मनोरंजन की। लेकिन धीरे-धीरे अस्तित्वबोध की लड़ाई के तहत आज स्त्री साहित्यिक क्षेत्र में 'कर्ता' का स्थान निभा रही है। मनोरंजन का स्रोत मानी जानेवाली स्त्री अब 'विषय' के साथ-साथ 'कर्ता' की भूमिका हासिल कर पूरे समाज की उसकी ज़िन्दगी, उसके अधिकार, उसकी समस्यायें, उसके अस्तित्व आदि के बारे में सचेत कर रही है। सिर्फ स्त्री ही नहीं पुरुष रचनाकारों ने भी स्त्री जीवन के अनकहे, अनसुने जीवन सन्दर्भों पर लेखनी चला रहे हैं।

2.4.1.1 कविता में स्त्री विमर्श

समाज में स्त्री की जो स्थिति है उसी का प्रतिबिंब साहित्यिक रचनाओं में उपलब्ध है। आदिकाल की काव्य रचनाओं में एक ओर स्त्री के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण है तो दूसरी ओर उसे भोग्य के रूप में माननेवाला दृष्टिकोण है। स्त्री की सूक्ष्म चरित्रगत श्रेष्ठताओं का अंकन प्रायः नहीं के बराबर है।

भक्तिकाल की हर एक काव्यधारा में स्त्री के प्रति अलग-अलग दृष्टिकोण पाये जाते हैं। संत काव्यों में स्त्री की माया या कामिनी रूप को कठोर शब्दों में निन्दा मिलती है और उस की सती और पतिव्रता रूप को प्रशंसा। स्त्री के आदर्श रूप को भलीभाँति दर्शाया गया है। कृष्ण भक्ति शाखा में उपलब्ध मीराबाई के काव्य में स्त्री-मानस की पीड़ा को वाणी मिली। उस युग में आत्माभिव्यक्ति की स्वतंत्रता स्त्रियों को नहीं थी। मीरा के काव्य का केन्द्रीय भाव पुरुषसत्तात्मक समाज के दबाव से मुक्त होकर स्वतंत्र जीवन जीने के लिए तड़पती स्त्री की आशएँ, आकाँक्षाएँ, सपने और विरोधी मानसिकता है। वे समाज द्वारा स्त्रियों पर आरोपित नियति से बाहर निकलकर खुद को खोजना और सुधारना चाहती हैं।

मीरा ने वैवाहिक संबन्ध की अनैतिक मान्यताओं को अस्वीकार करते हुए उसके प्रति विरोध प्रकट किया है। वे मानती हैं कि एक पूर्ण पुरुष अपनी पत्नी के अस्तित्व को स्वीकारते हुए उससे समानता पूर्ण व्यवहार करेगा, न कि उसके शरीर पर अपने अधिकार की घोषणा करते हुए सुहाग चिह्नों की अनिवार्यता पर। मीरा इन सुहाग चिह्नों मे अपने स्त्रीत्व का पराजय महसूस कर रही है। वे कहती है-

"माँग और पाटी उतार धरूँगी, न पहिरूँ कर चूड़ो
मीरा हठीली कहें संतन सों, बर पाया छै मैं पूरो।"[23]

स्त्रियों के प्रति रीतिकालीन कवियों का दृष्टिकोण सामन्तीय है जिसमें स्त्री विलास की सामग्री या उपकरण मात्र थी।

आधुनिक काल में हुई सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप साहित्य में भी स्त्रियों के प्रति सहानुभूतिपरक दृष्टिकोण रखने लगे। परिणामस्वरूप इस युग के

कवियों ने स्त्री की दशा सुधारने की माँग की। स्त्रियों की परंपरागत छवि टूटने लगी और उन्हें नये संदर्भ में परिभाषित करने का प्रयास करने लगे। भारतेन्दु युग में स्त्रियों की विभिन्न समस्याओं को लेकर सहानुभूतिपरक कविताएँ लिखी हैं। प्रतापनारायण मिश्र ने 'मन की लहरों' में बाल विधवा की करुण दशा का सफल चित्रण किया है- द्विवेदी युग में अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, श्रीधर पाठक आदि कवियों ने स्त्री को आदरणीय पद पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। गुप्तजी ने एक ओर स्त्री को प्रबला के रूप में चित्रित किया है तो दूसरी ओर उसके त्याग, ममता, और स्नेहमयी रूप को भी उपस्थित किया। उन के 'द्वापर' में 'विधृता' आधुनिक नारी का प्रतीक है।

> "जाती हूँ जाती हूँ अब मैं और नहीं रुक सकती,
> इस अन्याय समझ मरूँ मैं कभी नहीं झुक सकती
> किन्तु आर्य नारी, तेरा केवल एक ठिकाना,
> चल तू वहीं, जाकर फिर नहीं लौटकर आता।"[24]

विधृता, सचेता का प्रबल रुप धारण कर स्त्री के स्वाभिमान की रक्षा करती हुई त्याग और बलिदान करती है जो अन्याय के प्रति कभी झुकती नहीं थी।

छायावादी कवियों ने स्त्री को गौरवमय स्थान प्रदान कर उसे मानवी के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। अपनी रचनाओं के ज़रिए स्त्री जीवन की गंभीरतम समस्याओं पर विचार करनेवाली महादेवी वर्मा की कविताओं में भारतीय स्त्री समाज की विवशता, और उपेक्षित स्थिति का संकेत मिलता है। जैसे

> "मैं नीर भरी दुःख की बदली

परिचय इतना इतिहास यही

उमड़ी कल थी मिट आज चली।"[25]

पंतजी ने स्त्री को प्रकृति से जोड़कर देखा और देवी, माँ, सहचरी और प्राण कहकर उस के सच्चे व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा की है। वे युग-युगों से पीड़ित स्त्री को मुक्त करने का आह्वान देते है-

"मुक्त करो नारी को मानव

चिर बंदिनी नारी को

युग-युग की बर्बरता से

जननी-सखी प्यारी को।"[26]

राष्ट्रीय सांस्कृतिक काव्यधारा के कवियों में दिनकर, सुभद्रा कुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा नवीन आदि की कविताओं में राष्ट्रसेविका का रूप धारण करती स्त्री के वीरांगना रूप सामने आती है। एक ओर प्रगतिवादी कवियों ने स्त्री की असहाय अवस्था पर आक्रोश प्रकट किया है तो दूसरी ओर प्रयोगवादी और नई कविता में भी स्त्री के प्रति मानवतावादी दृष्टिकोण रखा है।

नई कविता के सशक्त कवि रघुवीर सहाय ने स्त्री समस्याओं पर विशेष रूप से ध्यान रखा। उनकी कई कविताएँ पुरुष प्रधान समाज में स्त्री के ऊपर पुरुष द्वारा किये गये अत्याचार, स्त्री की लाचारी और उसकी दर्दभरी ज़िन्दगी का शब्दचित्र है। 'नारी' शीर्षक कविता में हमेशा स्त्री को दबाकर रखने में षड्यंत्र रचनेवाली सामाजिक व्यवस्था के प्रति कवि ने व्यंग्य रूप से प्रहार किया है-

"नारी बिचारी है

तन से क्षुधित है

मन से मुदित है

लपककर झपककर

अन्त में चित्त है।"[27]

समकालीन कविता विभिन्न आयामों को समेटते हुए आगे बढ़ रही है जिसमें स्त्री जीवन से जुड़ी हुई समस्याओं पर भी कविताएँ होने लगी। धूमिल, पवन करण, अरुण कमल, चंद्रकांत देवताले, मंगलेश डबराल, प्रयाग शुक्ल, लीलाधर जगूडी, राजेश जोशी आदि कवियों ने स्त्री के अस्तित्व बोध, अधिकार, आशाएँ, आकांक्षाएँ, स्त्री जागरण, उनके प्रतिरोध और प्रतिशोध संबन्धी कई कविताएँ लिखी है। अस्तित्व की तलाश में भटकती स्त्री का चित्रण चन्द्रकांत देवताले की 'औरत' शीर्षक कविता में देख सकते हैं-

"एक औरत का धड़

भीड़ में भटक रहा है

उसके हाथ अपना चेहरा ढूँढ रहे हैं

उसके पाँव

जाने कब से

सबसे

अपना पता पूछ रहे है।"[28]

समकालीन कविता में स्त्रियों की भागीदारी से काव्य में स्वानुभूति की अभिव्यक्ति पर प्रमुखता मिलने लगी। कवयित्रियों ने स्त्री जीवन से संबन्धित जितने भी विषय,

नैतिकता के नाम पर गोपनीय या छिपाकर रखे थे। उन सबको अपने काव्य में खोलकर रखा। स्त्री को हमेशा दबाकर रखने के लिए पुरुष वर्चस्ववादी समाज द्वारा बनाए गए सारे नियमों, मिथों और आचारों पर प्रहार किया है। कवयित्रि अनामिका ने बचपन से ही महसूस करनेवाले लिंगभेद की राजनीति को यों प्रस्तुत किया है-

"अपनी जगह से गिर कर
कहीं के नहीं रहते
केश, औरत और नाखून
यह वैसे ही जान
लिया था हमने
अपनी पहली कक्षा में
राम पाठशाला जा
सीता खाना पका।"[29]

आज स्त्री अपनी समस्याओं के कारण ढूँढ रही है, अपने अस्तित्व के बारे में सजग हैं, अपनी मुक्ति के लिए वे क्रान्तीकारी रूप धारण कर एक-साथ लड़ाई कर रही हैं। दलित कवयित्रि सुशीला टाकभौरे जी 'विद्रोहिणी' कविता में कहती है-

"आज रोम-रोम से
ध्वनि गूँजती है और
पोर पोर से पाव फूटते हैं
प्रचलित परिपाटि से हटकर

भागती हूँ, सब ओर एक साथ

विद्रोहिणी बन चीख़ती हूँ

गूँजती है, आवाज़ सब दिशाओं में"[30]

स्त्री मुक्ति पर बल देनेवाले अन्य कवयित्रियों में प्रमुख हैं कात्यायनी, निर्मला पुतुल, प्रज्ञा रावत, सुनीता जैन, रजनी तिलक, सविता सिंह, रमणिका गुप्ता आदि। उनकी कविताओं में पुरुष वर्चस्ववादी समाजिक व्यवस्था को तोडने की ताकत है साथ ही साथ एक आशावादी दृष्टिकोण भी है।

इस प्रकार हम देख सकते है कि हिन्दी काव्य क्षेत्र में छिट-पुट कुछ कवियों के अलावा आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकालीन कवियों ने प्रमुख रूप से स्त्री को सिर्फ वस्तु, शरीर, कामिनी, भोग्या के रूप में चित्रित किया था। भक्तिकाल में उपलब्ध मीराबाई के पदों में आज के स्त्री विमर्श से जुडे कई आयामों को देख सकते हैं। आधुनिक काल की कुछ कवियों ने स्त्री की समस्याओं और स्त्री जागरण पर बल दिया। आठवें-नवें दशक में हुई स्त्री कवयित्रियों की उभार से स्त्री मुक्ति की आवाज़ ज़ोर पकड़ने लगी। 'कविता' को एक हथियार के रूप में स्वीकारते हुए वे मुक्ति के लिए संघर्षरत है।

2.4.1.2 कहानी में स्त्री विमर्श

हिन्दी कहानी साहित्य भी स्त्री की नियति पर गंभीरता पूर्वक विचार किया है। हिन्दी कहानी साहित्य में स्त्री विमर्श के विकास क्रम का अवलोकन किया जाये तो देख सकते है कि हिन्दी कहानी की शुरुआती दौर से लेकर अब तक की कहानियों

में 'स्त्री' और उसके जीवन से जुड़ी समस्याओं को विभिन्न दृष्टिकोण से देखने और परखने का प्रयास हुआ है।

स्त्री जीवन को दमित करनेवाली कुरीतियों, विसंगतियों और संकीर्णताओं का चित्रण आरंभकालीन कहानियों में देख सकते हैं। बंग महिला की 'दुलाईवाली' स्त्री जीवन से संबन्धित कहानी है जिसमें उन्होंने स्त्री शिक्षा की वकालत की है। पर्दाप्रथा की विभीषिका का भी चित्रण इसमें है। माधवराव सप्रे की 'टोकरी भर मिट्टी' में ज़मींदार से विरोध प्रकट करनेवाली एक गरीब विधवा की स्वाभिमान की कहानी है।

प्रेमचंद युग में स्त्री जीवन की समस्याओं की यथार्थ अभिव्यक्ति होने लगी। प्रेमचंद की कहानियों में स्त्री-विमर्श के अनेक आयाम देख सकते हैं। उन्होंने तत्कालीन समाज में स्त्रियों द्वारा झेलनेवाली समस्याएँ जैसे अनमेल विवाह, विधवा समस्या, दहेज प्रथा आदि की विभीषिकाओं को समाज के सामने रखा पति की मृत्यू के बाद असहाय जीवन व्यतीत करनेवाली विधवाओं का चित्र उनके 'बेटोंवाली विधवा', 'मृतक भोज', 'नैराश्यलीला' आदि उनकी कहानियों में देखने को मिलता है। 'नैराश्यलीला' में छोटी सी उम्र में ही विधवा बनकर समाज के डर से कैदखाने की कैदी जैसा जीवन बिताने में अभिशप्त कैलाशकुमारी की जीवन कथा है। प्रेमचंद जी ने विवाह संबन्धी क्रूरतम मान्यताओं के प्रति विरोध प्रकट किया है। 'नैराश्यलीला' में यह स्पष्ट दिखाई देता है- "वह विवाह नहीं, भोली-भाली कन्याओं का शिकार है। बारातियों को वह शिकारियों के कुत्ते समझती है। यह विवाह नहीं, स्त्री का बलिदान है।"[31]

प्रेमचंद जी ने स्त्रियों को सिर्फ़ जागृत ही नहीं किया बल्कि प्रतिरोध और प्रतिशोध करने को भी सिखाया। उनकी कई कहानियों में शिक्षित, सशक्त, आत्मनिर्भर और अस्तित्वबोध से सजग स्त्री पात्रों को देख सकते हैं। वे कही-कहीं परंपरागत अवमूल्यों के प्रति असहमती प्रकट करती है तो कहीं अपने अधिकारों के लिए संघर्ष भी करती है।

'कुसुम' कहानी में प्रेमचंदजी ने पति द्वारा पत्नी को सिर्फ दहेज के माध्यम के रूप में देखनेवाले दृष्टिकोण पर विचार किया है। 'कुसुम' एक ऐसी सशक्त स्त्री पात्र है जिसने पति की इस दृष्टिकोण के विरुद्ध यों प्रतिरोध करती है- "जो आदमी इतना स्वार्थी, इतना दंभी, इतना नीच है, उसके साथ मेंरा निर्वाह न होगा। मैं कहे देते हूँ, वहाँ रूपये गये तो मैं ज़हर खा लूँगी। .... मैं ऐसी आदमी का मूँह भी नहीं देखना चाहती। .... मैं ने स्वतंत्र रहने का निश्चय कर लिया है।"[31] प्रेमचंद ने अपनी स्त्रीपक्षीय कहानियों के ज़रिए स्त्री समस्याओं को यथार्थ की कसौटी पर परखा है और स्त्रियों को पुरुषों के समान समाज में उचित स्थान दिलाने का आह्वान किया।

प्रेमचंदोत्तर कहानियों में भी उनके विचारों का प्रभाव दिखाई देता है। जैनेद्र कुमार, अज्ञेय, विष्णु प्रभाकर, यशपाल, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, वृन्दावनलाल वर्मा, शिवरानी देवी, उषादेवी मित्रा, सुभद्रा कुमारी चौहान' आदि की कहानियों में स्त्री-विमर्श का आधुनिक स्वरूप देखा जा सकता है। जैनेद्र की कई कहानियों में स्त्री मुक्ति की आवाज़ गूँजित है। उन्होंने स्त्रियों को घुटन भरी ज़िन्दगी से मुक्त कराकर अपने वास्तविक स्वरुप से अवगत कराने का प्रयास किया। उनकी आरंभिक कहानियों में परंपरागत स्त्री स्वरूप का चित्रण है तो बाद की कहानियों में

प्रेम और दांपत्य के द्वन्द्व में फंसनेवाली स्त्रियों की कुंठाओं, तनावों और संवेदनाओं का चित्रण है। उनके 'एक रात', 'जाह्नवी' आदि कहानियाँ इसका उदाहरण है। इलाचंद्र जोशी ने अपनी रचनाओं में सबल और सचेत स्त्री पात्रों की सृष्टि कर आधुनिक युग की संघर्षशील स्त्री का चित्र मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उनकी अधिकतर कहानियाँ स्त्री-पुरुष समानता का समर्थन करती है। जैसे 'चरणों की दासी' में कहा है कि "पुरुष किसी भी बात में स्त्री से श्रेष्ठ नहीं है और उसे कोई भी अधिकार नहीं है कि वह स्त्री के ऊपर अपना दबाव रखने की चेष्टा करें।"[32] इसी प्रकार अज्ञेय की कहानियों की स्त्री पात्र भी क्रांतिकारी चेतना से ओतप्रोत है। उनकी 'बिपथगा' कहानी में स्त्री पूर्णतः विद्रोही बनकर क्रान्ति का नारा बुलन्द करती है। यशपाल ने अपनी कहानियों के माध्यम से स्त्री की चिर शोषित स्थिति पर प्रहार किया है। वे स्त्री को पारंपरिक दासता से मुक्ति पाने के लिए शिक्षित और आर्थिक रूप से स्वावलंबी बनाने के लिए प्रेरित करती है।

प्रेमचंदोत्तर युग में सुमित्रा कुमारी सिन्हा, सुभद्राकुमारी चौहान, चन्द्रकिरण सौनरिकसा आदि लेखिकाओं की कहानियों में स्त्री मुक्ती की गुंजाईश है। सुभद्राकुमारी चौहान ने अपनी कहानियों के ज़रिए तत्कालीन समाज में स्त्री की स्थिति पर विचार किया है। उनकी 'उन्मादिनी', 'पवित्र ईर्ष्या', 'दो साथी', 'आहुती', 'मँझली रानी' आदि कहानियों में पति और ससुरालवालों द्वारा पीडित स्त्रियों की दयनीय स्थिति का वर्णन है तो 'असमंजस', 'कल्याणी', 'एकादशी' आदि में विधवाओं के दुःख-दर्द की अभिव्यक्ति है।

स्वातंत्र्योत्तर युग में पुरुष लेखकों के साथ-साथ स्त्री लेखिकाओं ने भी अपने जीवन यथार्थ को अनुभव के धरातल पर प्रस्तुत करना शुरु किया। मन्नु भंडारी, उषा प्रियंवदा, कृष्णा सोबती, ममता कालिया, शिवानी, शशिप्रभा शास्त्री आदि पहली पीढ़ी की लेखिकाएँ हैं जिन्होंने अपनी कहानियों के ज़रिए स्त्री की परंपरागत छवि तोड़ी है। उसके समग्र विकास में बाधा उत्पन्न करनेवाले अनैतिक मूल्यों और परंपराओं को वे नकारती है। मन्नू भंडारी की कहानी संग्रह 'मैं हार गई', 'तीन निगाहों की एक तस्वीर', 'एक प्लैट सैलाब', 'मेरी प्रिय कहानियाँ' आदि संग्रहों में संकलित अधिकांश कहानियाँ व्यवस्था के चंगुल में पिसकर जीनेवाली स्त्री की मनःस्थिति का दस्तावेज़ है। महिला कहानीकारों की अगली पीढ़ी ने विशेषकर घरेलू समस्याएँ, वैवाहिक जीवन, विवाहेतर स्त्री-पुरुष संबन्ध आदि समस्याओं को बड़ी गहराई से उभारा है। जैसे मृदुला गर्ग, सुधा अरोडा, मेहरुन्नीसा परवेज़, दीप्ती खण्डेलवाल, चित्रा मुद्‌गल, प्रभा खेतान आदि की स्त्री पात्र मूल्यों को पुर्नपरिभाषित करने की कोशिश करती हैं। वे मुक्ति के लिए लड़ाई का आह्वान देती हैं। जैसे चित्रा मुद्‌गल 'बावजूद इसके' कहानी की प्रीति के ज़रिए स्वीकार करती है कि "यह लड़ाई खुद की है और उसका कोई अंत नहीं है।"[33]

मृणाल पाण्डेय ने अपनी कहानियों में स्त्री को पराधीन करनेवाली पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था के वास्तविक चरित्र को उजागर किया है। 'एक थी हंसमुख दे' कहानी इसका उदाहरण है। आठवें दशक से ही उषाप्रियंवदा के कहानी लेखन में स्त्री समस्या पर विचार स्पष्ट रूप से देखने लगा। 'कितन बड़ा झूठ', 'मछलियाँ', 'छुट्टी का दिन' जैसे कहानियाँ इसका प्रमाण है। मृदुला गर्ग प्रारंभ से ही स्त्री पक्षीय विचारधारा से प्रभावित होकर स्त्री मुक्ति के लिए लेखनी चलायी थी।

उनकी ‘कितनी कैदें’, ‘टुकड़ा-टुकड़ा आदमी’, ‘डैफ़ोडिल जल रहे हैं’, ‘दुनिया का कायदा’, ‘सात कोठरी’, ‘मंजूर और नामंजूर’ आदि कहानियों में स्त्री-पुरुष संबन्ध, विवाह संस्था के खोखलेपन, स्त्रियों की मानसिक संघर्ष आदि की प्रौढ़ अभिव्यक्ति मिलती है। मैत्रेयी पुष्पा की कहानियों में मध्यवर्ग की स्त्री ही नहीं बल्कि, गरीब और निम्नवर्ग की स्त्री की पीड़ा को भी जगह मिली है। नासिरा शर्मा की कहानियों की स्त्री पात्र पितृसत्तात्मक मूल्यों और संस्थाओं के खिलाफ आवाज़ उठाने में सक्षम होनेवाले सशक्त और निर्भीक पात्र है।

नई पीढ़ी की लेखिकाओं में अलका सरावगी, क्षमा शर्मा, गीतांजलिश्री, जया जादवानी और ऊर्मिला शिरीष आदि लेखिकाओं ने आठवें दशक से ही लिखती आ रही है। कुछ लोगों ने अभी लिखना शुरु किया है जैसे लवलीन, दुर्वा सहाय् उषा राजे, रोहिणी अग्रवाल, नीलाक्षी सिंह, जया जादवानी आदि। इन्होंने स्त्री समस्याओं को बदलते परिवेश में देखने-परखने का प्रयास किया है। ऊर्मिला शिरीष की ‘चीख’ कहानी बलात्कार की शिकार बनी एक लड़की की विवशता और उस पर होनेवाले सामाजिक दृष्टिकोण को रेखांकित करती है। उन सबसे छुटकारा पाकर वह लड़की समाज का सामना करती है। वह कहती है- “मैं ने कोई गलती या अपराध नहीं किया, जिसके लिए मैं ज़िन्दगी भर आत्मग्लानि में घुलूँ। मैं हर स्थिति का सामना करूँगी। चाहे मेरा कोई साथ दे या न दे।”[34] ज़हिर है कि वर्तमान हिन्दी कहानी स्त्री के सशक्त होते तमाम रूपों को उद्घाटित करने में सक्षम है। वह अब स्वयं को अबला नहीं सबला के रूप में स्थापित कर रही है। सुशीला टाकभौरे, कावेरी, रजतरानी मीनू जैसी दलित लेखिकाओं ने भी दलित स्त्रियों के दोहरे शोषण पर अपनी कहानियाँ द्वारा विचार प्रस्तुत किया है।

समकालीन लेखिकाओं के साथ-साथ पुरुष कहानीकारों के प्रयासों को अनदेखा नहीं कर सकते। शिवमूर्ती का 'अकाल दंड', 'तिरिया चरित्तर' संजीव की 'तिरबेनी का तड़बला', 'व्याज', ललित शाह का 'गिद्धा कौल', पुत्नी सिंह का 'इस इलाके की सबसे कीमती औरत' आदि विवेचन काल की कहानियाँ उद्घोषणा करती है कि भविष्य उनका है।

2.4.1.3 उपन्यास में स्त्री विमर्श

हिन्दी में उपन्यास साहित्य की शुरूआत से लेकर आज तक के उपन्यासों पर दृष्टि डालें तो स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश उपन्यासकारों ने स्त्रियों पर होनेवाले अन्याय, शोषण, विभिन्न समस्याएँ और उनसे मुक्ति, स्त्री जागरण, अस्तित्वबोध, देह विमर्श, यौन उत्पीड़न, आदि पर बहुत ही सूक्ष्म रूप से विचार किया है। हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासों में श्रद्धाराम फुल्लौरी कृत 'भाग्यवती' स्त्री चेतना एवं स्त्री शिक्षा को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। इसी युग में लाला श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, मन्नन द्विवेदी आदि नवसुधारवादी लेखकों के स्त्री संबन्धी दृष्टिकोण उदार एवं परंपरा से मुक्त था।

स्त्री चेतना का वास्तविक विकास प्रेमचंद जी के उपन्यासों में ही प्राप्त होता है, जिन्होंने प्रायः सभी उपन्यासों में नारी मुक्ति की आवाज उठाई है। वर्तमान समय में जो स्त्री विमर्श का शोर मचा रहा है, उससे अधिक सशक्त एवं विद्रोही स्त्री-विमर्श प्रेमचंद के उपन्यासों में देखा जा सकता है। उनके प्रारंभिक उपन्यासों में स्त्री जीवन की विवशता और उसे अपनी नियति मानकर जीनेवाली स्त्री पात्रों की देखा जा सकते है। जैसे 'प्रेम', 'वरदान' और निर्मला में ऐसी मूक स्त्री पात्र है तो बाद के

उपन्यासों में 'कर्मभूमि', 'गोदान' तथा 'मंगलसूत्र' में समस्याओं को सामना करनेवाली विकास शील और निर्भीक स्त्री पात्रों को देख सकते हैं 'जैसे कर्मभूमि' की सुखदा अपने पति से निडर होकर कहती हैं- "अब कोई इस भ्रम में न रहे कि पति चाहे जो करे, उसकी स्त्री उसके पाँव धो-धोकर पिएगी, उसे अपना देवता मानेगी, वो दिन लद गए।"[35] प्रेमचंद के उपरांत जयशंकर प्रसाद के उपन्यास 'कंकाल' में सभी स्त्री पात्र मुक्ति के लिए कराहती है तो 'तितली' में मुख्य पात्र 'तितली' पति से बिछुड़कर अकेले रहने का साहस दिखाती है जो अपने अस्तित्व के लिए लड़नेवाली संघर्षशील नारी है। उनके कथन से यह स्पष्ट हो जाता है- "मुझे अपनी शक्तियों पर अवलम्ब करके भयानक संसार से लड़ना अच्छा लगा। जितना सुविधा दी है, उसी क्षमता से मैं लडूँगी अपने अस्तित्व के लिए।"[36] प्रेमचंद युग के उपन्यासकारों में प्रसाद, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, भगवती प्रसाद वाजपेयी आदि छिट-पुट लेखकों ने तत्कालीन स्त्री समाज की समस्याओं को उजागर किया है, साथ ही अपनी स्त्री पात्रों में विपरीत परिस्थितियों से लड़ने की ताकत भी भर दिया है।

प्रेमचंदोत्तर युग में जैनेन्द्र, इलाचन्द जोशी, यशपाल, भगवती चरण वर्मा, उपेन्द्रनाथ अश्क जैसे प्रमुख साहित्यकारों के उपन्यासों में स्त्री समस्याओं के बदलते स्वरुप और उसका कारण, उसका समाधान आदि पर विचार-विमर्श है। जैनेन्द्र ने प्रमुख रुप से स्त्री के यौन संबन्धी प्रश्नों और उससे उत्पन्न होनेवाली अन्तर्द्वन्द्वों को प्रमुखता दी है। उनकी सुनीता, सुखदा, भुवनमोहिनी, अनिता आदि स्त्री पात्र इसी द्वन्द्व से पिघलनेवाली है। इलाचंद्र जोशी ने अपने उपन्यासों मे सबल और सचेत स्त्रियों की सृष्टि कर वर्तमान युग की संघर्षशील नारी का चित्र मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुत किया है। उनके 'लज्जा', 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी', 'प्रेत और छाया',

'निर्वासित', 'मुक्तिपथ', 'जहाज का पंछी' अदि में ऐसी स्त्री पात्रों को देख सकते हैं जो पुरुष वर्चसव के सामने सिर झुकानेवाली नहीं बल्कि विद्रोह करनेवाली है। जैनेन्द्र और इलाचन्द्र जोशी जी ने स्त्रियों की मानसिकता और स्त्री संबन्धी नए मूल्य और नैतिक मान्यताओं को नए सन्दर्भ में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। अज्ञेय ने उन्हें नऐ सन्दर्भ में, नए दृष्टिकोण में सामने रखा है। उन्होंने स्त्री के विकास में बाधा डालनेवाली सामाजिक संस्थाओं विशेषकर वैवाहिक संस्था में होनेवाले मान-मर्यादाओं, परंपराओं, अन्यायों और अत्याचारों को पूर्णतया विरोध किया है। उनके 'शेखर एक जीवनी' की शशी तथा 'नदी के द्वीप' की रेखा अपने अनचाहे विवाह संबन्ध से अतृप्त होकर अपने जीवन की पूर्णता विवाह में न मानकर, प्रेम को महत्व देती है। यशपाल के अधिकांश उपन्यास स्त्री-विमर्श का सशक्त उदाहरण हैं, उन्होंने अपने उपन्यासों के ज़रिए स्त्री की चिर शोषित स्थिति पर आक्रोश प्रकट करते हैं, विभिन्न श्रेणी की स्त्रियों की समस्याएँ और विवाह संबन्ध के खोखलेपन पर विशेष रूप से चर्चा की है। 'दादा कामरेड', 'पार्टी कामरेड', 'देशद्रोही' आदि इसका उत्तम उदाहरण है। इस युग के अन्य उपन्यासों में भगवतीचरण वर्मा के 'चित्रलेखा' और वृन्दावनलाल वर्मा के 'झांसी की रानी लक्ष्मीबाई' तथा 'मृग नयनी' में स्त्री की स्वतंत्रता, स्त्री-पुरुष समानता और सामाजिक कल्याण की भावना है।

स्वतंत्रता प्राप्ती के बाद सामाजिक परिस्थितियाँ बदली और आज भी बदलती जा रही है जिसका प्रभाव स्त्री जीवन पर भी पडने लगा। स्वातंत्र्योत्तर काल के उपन्यासों में उपलब्ध स्त्री विमर्श में स्त्री की अस्मिता, उसकी आत्मचेतना और अस्तित्वबोध के प्रति चेतना आदि केन्द्रीय विषय रहा। समकालीन या सन् 1960 के पश्चात् के उपन्यासों में यह प्रवृत्ति अपने चरमोत्कर्ष पर भी।

समकालीन हिन्दी उपन्यासों मे अमृतलाल नागर, शिवप्रसाद सिंह, उषा प्रियंवदा, गोविन्द मिश्र, सुरेन्द्र वर्मा, राजेन्द्र यादव, संजीव, मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल, प्रभा खेतान, चंद्रकांता, मैत्रेयी पुष्पा, अलका सरावगी आदि के उपन्यासों में स्त्री विमर्श के अनछुए सन्दर्भों का रेखांकन है। हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठित साहित्यकार गोविन्द मिश्र का उपन्यास 'धूल पौधों पर' वजूद की तलाश करती एक स्त्री के क्रमशः सशक्त होते चले जाने का दास्तान है। स्त्री-पुरुष संबन्ध, विवाह जैसी सामाजिक संस्थाओं के क्रूर व्यवहारों, और स्त्री व्यक्तित्व के विकास से जुड़ी तमाम समस्याओं को लेखक ने बहुत ही संवेदनात्मक ढंग से पेश किया है। प्रस्तुत उपन्यास में पत्नी को सिर्फ देह के रुप में माननेवाले पति की कामवासनाओं के शिकार होती स्त्री की विवशता को यों व्यक्त किया है- "में कोई चीज़ हूँ, जानवर हूँ या पत्नी हूँ तो इसलिए मनुष्य भी नही हूँ? मेरी इच्छा-अनिच्छा कुछ नहीं... रात भर उसने मुझे एक जबर कुत्ते की तरह चींथा... मेरे शरीर का कोई हिस्सा नहीं छोड़ा... यहाँ तक कि मेरे बाल खींचे, जबर्दस्ती मेरे कपड़े उतार फेंके, छाती पर नाखूनों से लकीरें खींच दी, इधर-उधर कहीं भी दांत गड़ाये। रात भर मुझे रौंदता रहा...।"[37]

मृदुला गर्ग हिन्दी साहित्य की प्रमुख नारीवादी लेखिका है जिनके उपन्यासों का केन्द्रीय बिन्दु स्त्री सशक्तीकरण है। 'कठगुलाब' उनकी ऐसी रचना है जिसमें स्मिता, मारियान, नर्मदा और नसीमा जैसे सशक्त स्त्री पात्रों का निर्माण कर लेखिका स्त्री मुक्ति की माँग करती है। उपन्यास के सभी पात्र विपरीत परिस्थितियों का सामना करके अपनी पहचान बनाने के लिए संघर्षरत हैं। चित्रा मुद्गल की 'एक ज़मीन अपनी' में स्त्री शोषण के संबन्ध में संचार माध्यमों की भोगवादी दृष्टि का पर्दाफाश किया गया है। प्रभा खेतान ने अपने उपन्यासों में स्त्री जीवन की त्रासदी

को एक संवेदनशील स्त्री की दृष्टि से देखा है। उनके 'आओ पे पे घर चलें', 'छिन्नमस्ता', 'अपने-अपने चेहरे' आदि इसका उदाहरण है। मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' नारी चेतना को व्यापक सामाजिक परिवेश में उभारनेवाला उपन्यास है। उन्होंने निम्नवर्ग की स्त्रियों पर भी ध्यान दिया है। 'अलमा कबूतरी' उपन्यास सामाजिक संकीर्णताओं को तोडनेवाली और पारंपरिक रुढ़ियों को चुनौती देकर जीनेवाली एक दलित नारी की जिजीविषा का दास्तान है। यह समकालीन स्त्री चेतना को शक्ति और प्रेरणा देनेवाला है। 'स्त्री समलैंगिता' जैसी गंभीर विषय को बेहिचक के चित्रित करनेवाला पहला उपन्यास है गीतांजलि श्री की 'तिरोहित'। इनके अलावा नई पीढ़ी की लेखिकाओं ने भी वर्तमान सन्दर्भ में स्त्रियों की जिन-जिन गंभीर समस्याओं से गुज़रना पड़ता है उस पर चर्चा करते हुए स्त्रीविमर्श के वातायन को विस्तृत कर दिया। जैसे जयश्री रॉय के 'दर्दजा' औरतों की सुन्नत (फीमेल जेनिरल म्यूटिलेशन) की कुप्रथा के खिलाफ़ आवाज़ उठानेवाले उपन्यास है। सुशीला टाकभौरे, कावेरी जैसी दलित लेखिकाओं द्वारा अपने उपन्यासों में दलित स्त्री के दोहरे शोषण को समाज के सामने प्रस्तुत करते हुए समतुल्य समाज की स्थापना की माँग की।

संक्षेप में कह सकते है कि हिन्दी उपन्यास साहित्य में प्रेमचंद के उपन्यासों से ही स्त्री जागरण की एक नई लहर की शुरूआत हुई है। उसके बाद जितने भी रचनाकार आए हैं, वे सभी स्त्री को मानवीय रूप देकर उसकी संवेदनाओं को बहुत ही सूक्ष्म रूप से प्रस्तुत करने वाले थे। विशेषकर स्त्री लेखिकाओं के उपन्यासों में अब तक के 'अनसुने' अनुभवों को शब्दबद्ध किया है जो स्त्री की क्षमताओं, सीमाओं, आकांक्षाओं, अतंर्विरोधों, प्रतिरोध और प्रतिशोध के दर्पण हैं। उन

रचनाओं के ज़रिए वे वर्ण, वर्ग और लैंगिक विभाजन से मुक्त मानव समाज की स्थापना करना चाहते हैं।

2.4.1.4 नाटक में स्त्री विमर्श

हिन्दी के नाट्य साहित्य में भी स्त्री विमर्श के विभिन्न आयामों पर बड़ी सघनता से विचार विमर्श प्रस्तुत हुए हैं हिन्दी में नाट्य साहित्य की वास्तविक शुरुआत भारतेन्दुकाल में हुई है। नवजागृति के इस युग में लोगों में चेतना जगाने के लिए नाटक जैसे माध्यम की भूमिका बहुत ही प्रभावी सिद्ध हुई है। इस काल में बालविवाह, विधवा विवाह, वेश्यावृत्ति आदि स्त्रियों की समस्याओं पर अनेक प्रहसन लिखे गये थे। भारतेन्दुजी ने 'नीलदेवी' और 'सतीप्रताप' के ज़रिए भारतीय समाज को समझाया कि स्त्री भोग्या नहीं है बल्कि शक्ति का प्रतीक है। भारतेन्दु युग के नाटकों में सबकुछ सहनेवाले, अपने ऊपर होनेवाले अन्याय को मौन रूप से स्वीकार करने में विवश स्त्री समाज का प्रस्तुतीकरण है तो प्रसाद युग में अपनी स्वतंत्रता, और आत्मसम्मान का अधिकार माँगनेवाली स्त्री चरित्र को देख सकते हैं। प्रसाद जी का 'ध्रुवस्वामिनी' इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है। इसमें उन्होंने ध्रुवस्वामिनी के द्वारा स्त्रियों को सिर्फ एक उपकरण के रूप में माननेवाली पुरुष मानसिकता पर प्रहार किया है। राज्यरक्षा के लिए ध्रुवस्वामिनी को शकराज के पास उपहार स्वरुप भेज देने के निर्णय के प्रति ध्रुवस्वामिनी प्रतिरोध करती है- "पुरुषों ने स्त्रियों को अपनी पशु संपत्ति समझकर उन पर अत्याचार करने का अभ्यास बना लिया है। वह मेरे साथ नहीं चल सकता। यदि तुम मेरी रक्षा नहीं कर सकते, अपने कुल की मर्यादा, नारी का गौरव नहीं बचा सकते, वो मुझे बेच भी नहीं सकते।"[38] प्रसादजी के समकालीन नाटककार लक्ष्मीनारायण मिश्र ने अपने नाटकों में आधुनिकताबोध से

प्रभावित स्त्रियों को प्रस्तुत किया है। 'सिन्दूर की होली' नाटक बाल विधवा समस्या पर केन्द्रित है। प्राचीन वैवाहिक परंपरा के प्रति विद्रोह करनेवाली चन्द्रकला के ज़रिए नाटककार ने स्त्रियों को प्रतिरोध का रास्ता खोल दिया।

अन्य विधाओं की भाँति समकालीन नाटकों में भी स्त्री की महत्ता को स्वीकार करने लगा। उससे सहानुभूति रखते हुए, उसकी समस्याओं पर विचार करने लगे, उसकी स्वतंत्रता, अस्मिता और अधिकार के लिए वकालत करने लगे। पारिवारिक उलझनों से पीड़ित स्त्रियों के आंतरिक संघर्ष को व्यक्त करने में मोहन राकेश का नाटक 'आधे अधूरे' सफल हुआ है। इसमें आधुनिक समाज के पितृसत्तात्मक परिवेश में आर्थिक रूप से घर को- संभालनेवाली सावित्री जैसी भारतीय स्त्री के अंतर्द्वन्द्वों का यथार्थ निरूपण है। स्त्री को वस्तुकरण करनेवाली प्रक्रिया का सख़्त विरोध करनेवाले सुरेन्द्रवर्मा का नाटक 'सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' स्त्री-पुरुष संबन्ध को एक नये सिरे से प्रस्तुत करता है। इसमें शीलवती जैसे सशक्त स्त्री पात्र के द्वारा स्त्रियों के विकास में बाधा डालनेवाली रूढ़ मान्यताओं के प्रति विरोध ज़ाहिर है। शीलवती का कथन है- ''महामात्य! इन खोखले शब्दों का जादू टूट चुका है अब। ... मर्यादा। .... धर्म... शील। वैवाहिक बंधन। सब मिथ्या।.... सब आडंबर! सब पुस्तकीय। लेकिन मुझे पुस्तक नहीं जीना अब! मुझे जीवन जीना है।''[39] पुरुष हमेशा स्त्री को अपने नियंत्रण में रखना चाहती है। लेकिन स्त्री उस बंधन से मुक्त होकर स्वतंत्र जीवन जीना चाहती है। पुरुषों की ऐसी स्वार्थ लिप्सा के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाली शिक्षित और नौकरीपेशा स्त्री का विद्रोह मन्नू भंडारी के 'बिना दीवारों के घर' में दिखाई पड़ता है। शंकर शेष के 'पोस्टर' और 'कोमलगाँधार' भी स्त्री विमर्श के संदर्भ में बहुत ही उल्लेखनीय है। 'पोस्टर' में

आदिवासी इलाकों में होनेवाले स्त्री शोषण और उसके विरुद्ध लड़ाई करनेवाली आदिवासी स्त्री 'चैती' की संघर्षभरी ज़िन्दगी प्रस्तुत है। समकालीन महिला नाटककारों में प्रमुख हस्ताक्षर कुसुम कुमार ने 'सुनो शेफाली' नाटक में हरिजन लड़की शेफाली के द्वारा यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि दलित स्त्रियाँ भी आज अपने ऊपर होनेवाले शोषण के प्रति जागृत है, और उसके विरुद्ध लड़ने की हिम्मत भी रखती है। दलित लेखिका सुशीला टाकभौरे के 'रंग और व्यंग्य' नाटक में भी स्त्री शोषण के विरुद्ध आवाज़ बुलन्द है। यह तीन नाटकों का संग्रह है जिसमें वे शोषण के विरुद्ध प्रतिरोधी रवैया अपनानेवाले स्त्री पात्रों की रचना करके सामाजिक परिवर्तन की माँग करती हैं। मृदुला बिहारी ने अपने ऐतिहासिक नाटक 'मुक्तिपर्व' में चितौड की रानी पद्मिनी की कथा को केन्द्र बनाकर स्त्री के वजूद से खिलवाड़ करनेवाली पितृसत्तात्मक समाज के प्रति विरोध प्रकट किया है। इसमें पद्मिनी समाज से पूछती है- "क्या पत्नी कोई वस्तु है जिसे जब चाहे दूसरे को सौंप दिया जाए? क्यों मेरे नारीत्व पर बार-बार आघात किया जा रहा है... क्यों? क्यों? क्यों?...."[40] यद्यपि नाट्य साहित्य में स्त्री समस्याओं पर केन्द्रित नाटक बहुत ही विरले है फिर भी जो उपलब्ध है वे स्त्री चिंतन के विभिन्न आयामों को गहराई से स्पर्श करने में समर्थ निकले हैं।

हिन्दी साहित्य की अन्य गद्य विधाएँ जैसे निबंध, आत्मकथा, संस्मरण और आलोचना साहित्य भी स्त्री संवेदनाओं को विभिन्न दृष्टिकोणों को उभारते हुए विचार-विमर्श के साथ आगे बढ़ रही है। सन् 1882 में एक अज्ञात हिन्दू औरत द्वारा लिखी गई किताब 'सीमन्तनी उपदेश', जिसे 1982 में धर्मवीर भारती ने संपादित किया था, स्त्री की समस्याओं को समग्रता से प्रस्तुत करती है। इसके संबन्ध में धर्मवीर भारती

का कहना है- "यह पुस्तक हिन्दुस्तान की बेटियों के लिए 'आज़ादी का घोषणापत्र' के समान है। यह औरत के दर्द और विद्रोह का सुलगता हुआ दस्तावेज़ है। जब-जब पढ़ लिखकर उसकी समझ और संवेदना का विस्तार हुआ है, तब-तब सदियों से हो रहे अत्याचार के खिलाफ उसके आँसू आग बनकर घर की चारदीवारी के बाहर बरसने लगते हैं। तब वह अपने विस्तार की तलाश करने लगती है और आसमान की ऊँचाइयाँ छूना चाहती है। तब वह पुत्री, बहन और पत्नी की इमेज के साथ-साथ अपने भीतर के व्यक्ति को भी खोजना चाहती है। यह किताब नारी के भीतर के उसी शाश्वत व्यक्ति की खोज का हिस्सा है।"[41] असल में यह पुस्तक भारत में स्त्री जागरण के संदर्भ में महत्वपूर्ण है।

इसके बाद आधुनिक काल में महादेवी वर्मा का चर्चित निबंध संकलन 'श्रृंखला की कड़ियाँ' प्रकाश में आया। यह 'स्त्री विमर्श' को एक नया मोड़ प्रदान किया, जिसमें महादेवी ने स्त्री की पराधीनता, आर्थिक आत्मनिर्भरता, शिक्षा, आत्मनिर्णय की स्वतंत्रता जैसी तमाम समस्याओं पर विचार किया गया है। उसकी राह पकड़ते हुए हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में 'स्त्री विमर्श' पर कई रचनाएँ प्रकाशित होने लगी। सरला माहेश्वरी की 'नारी प्रश्न', अनामिका की 'मन मांझने की ज़रूरत', 'स्त्रीत्व के मानचित्र', कात्यायनी की 'दुर्गद्वार पर दस्तक', प्रभा खेतान के 'बाज़ार के बीच: बाज़ार के खिलाफ', 'उपनिवेश में स्त्री', अरविंद जैन की 'औरत होने की सज़ा', मृणाल पांडे की 'परिधि पर स्त्री', 'देह की राजनीति से देश की राजनीति तक', मैत्रेयी पुष्पा के 'खुली खिडकियाँ', 'सुनो मालिक सुनो', राजेन्द्र यादव की 'आदमी की निगाह में औरत', अर्चना वर्मा की 'अतीत होती सदी और

स्त्री का भविष्य', रोहिणी अग्रवाल की 'स्त्री लेखन: स्वप्न और संकल्प' आदि आलोचनात्मक रचनाएँ स्त्री विमर्श संबन्धी विविध वैचारिक झाँकियाँ पेश करती हैं।

कुलमिलाकर हिन्दी साहित्य भी परिवर्तित सामाजिक संदर्भ के अनुसार 'स्त्री विमर्श' के ज़रिए स्त्री जीवन से जुड़ी समग्र समस्याओं को चर्चा के केन्द्र में रखकर स्त्री की बराबरी की हक के लिए कार्यरत है।

निष्कर्ष:

ऐतिहासिक दृष्टि से स्त्रीपक्षीय चिंतन ने एक प्रगतिशील विचारधारा के रूप में वैश्विक स्तर पर अपनी उपस्थिति दर्ज की है। यह स्त्री के पक्ष में न्याय की माँग करती है, जो उसकी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक समानता के लिए संघर्ष ज़ारी किया है। स्त्री की स्थिति में आशावादी परिवर्तन लाने में स्त्री मुक्ति आन्दोलनों की महत्वपूर्ण भूमिका है। स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान स्त्रीवादी आन्दोलनों की सशक्त पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी। उन्नीसवीं शताब्दी में पुरुषों द्वारा स्त्रियों की स्थिति में सुधार हेतु शुरू हुए आन्दोलन इक्कीसवीं शताब्दी तक आते-आते स्त्री के नेतृत्व में समानता और अस्तित्व की लड़ाई के रूप में परिवर्तित हुआ। भले ही भारतीय स्त्री विमर्श पाश्चात्य स्त्री विमर्श से बहुत कुछ प्रभावित है, फिर भी भारत में स्त्री चिंतन की अपनी ज़मीन है और इसे विदेशी आयात कहकर खारिज करनेवाले विवाद को तोड़-फोड़कर एक वट-वृक्ष के समान यह फैल रहा है। समाज में स्त्री उत्थान से जुडकर जितने भी प्रयास चल रहे हैं, साहित्य उनसे निरपेक्ष नहीं रह सकता। उत्तराधुनिक साहित्यिक विमर्शों में 'अस्मिता की पहचान' का सवाल जब 'स्त्री विमर्श' के रूप में सामने आया तब स्त्री की समस्याओं पर समग्रता से विचार-विमर्श

होने लगी। 'स्त्री विमर्श' के तरह साहित्यिक क्षेत्र में स्त्रियों की अनुभूतियों की प्रामाणिक अभिव्यक्ति होने लगी। जिससे 'विषय' की स्थान निभाती स्त्री 'कर्ता' के स्थान पर आ गई। उन्होंने स्त्रियों के सर्वांगीण विकास के लिए आवाज़ उठाई। पुरुष रचनाकारों ने भी उसमें हाथ दिया। प्राचीन और मध्ययुग में स्त्री का भोग्या रूप और आदर्श रूप को प्रस्तुत करते हिन्दी साहित्य आधुनिक काल में स्त्री की दर्दभरी ज़िन्दगी और समस्याओं का चित्रण कर उसमें जागृती की लहर पैदा की। बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक आते-आते स्त्री के हर रूप में उत्पीड़न, दमन और शोषण को जन्म देनेवाली स्थितियों और मुद्दों के खिलाफ 'अस्मिता की लड़ाई' का आह्वान किया। इसलिए हम कह सकते है कि 'स्त्री विमर्श' एक स्थायी विचार नहीं बल्कि वह परिवर्तनशील है। सामाजिक स्थितियों में होनेवाले परिवर्तन के साथ-साथ 'स्त्री विमर्श' के स्वरूप और सोच में भी परिवर्तन संभाव्य है जिसका मूल लक्ष्य स्त्री के प्रति मानवीय दृष्टिकोण की स्थापना ही रहेगा।

संदर्भ सूची

1. अर्जुन चव्हाण- विमर्श के विविध आयाम, पृ.18
2. हंस (अगस्त- 2004) संपादक- राजेन्द्र यादव, नामवरसिंह के साक्षात्कार से, पृ.195
3. अर्जुन चव्हाण- विमर्श के विविध आयाम, पृ.20
4. हंस (मार्च- 2000) संपादक- राजेन्द्र यादव, पृ.95
5. अर्जुन चप्हाण- विमर्श के विविध आयाम, पृ.29
6. प्रभा खेतान- उपनिवेश में स्त्री, पृ.39
7. रेखा कस्तवार- स्त्री चिन्तन की चुनौतियाँ, पृ.28
8. वही, पृ.28
9. रमणिका गुप्ता- स्त्री विमर्श: कलम और कुदाल के बहाने, पृ.69
10. महादेवी वर्मा- श्रृंखला की कड़ियाँ, पृ.12
11. अभयकुमार दुबे- समाज विज्ञान विश्वकोश- खण्ड-3-संपादक, पृ.783
12. Dale Spender- Routledge International Encyclopedia of Women by Cheris Kramarae, p.705
13. प्रमीला के.पी- स्त्री अध्ययन की बुनियाद, पृ. 42
14. S.Channa- Encyclopedia of Feminist Theory, Vol.I, p.44
15. अभयकुमार दुबे- समाज विज्ञान विश्वकोश- खण्ड-1, पृ.101
16. आशारानी व्होरा- औरत कल आज और कल, पृ. 183
17. https://hi.m.wikipedia.org.

18. माध्यमम् (मलयालम पत्रिका-February-2017), पृ. 19

19. डॉ. के. एम. मालती- स्त्री विमर्श : भारतीय परिप्रेक्ष्य, भूमिका से उद्धृत

20. रोहिणी अग्रवाल- स्त्री लेखन: स्वप्न और संकल्प, पृ. 41

21. S.Channa- Encyclopedia of Feminist Theory, Vol.I, p.37

22. जगदीश्वर चतुर्वेदी- स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, पृ. 6

23. रोहिणी अग्रवाल- स्त्री लेखन: स्वप्न और संकल्प, पृ. 25

24. मैथिलीशरण गुप्त- द्वापर, पृ. 42

25. महादेवी वर्मा- यामा, पृ. 233

26. पंत- युगवाणी, पृ. 64

27. सं. नन्दकिशोर नवल- छायांतर ('नारी' कविता), पृ. 27

28. चन्द्रकांत देवताले- लकड़बग्घा हँस रहा है, पृ. 10

29. अनामिका- खुरदुरी हथेलियाँ, पृ. 15

30. सुशीला टाकभौरे- तुमने उसे कब पहचाना वह तुम भी जानो, पृ. 86

31. प्रेमचंद- प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ (खण्ड-1), पृ.480

32. प्रेमचंद- प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ (खण्ड-1), पृ.228

33. इलाचंद्र जोशी- चरणों की दासी, पृ.80

34. चित्रा मुद्गल- बावजूद इसके, पृ.57

35. ऊर्मिला शिरीष- मेरी प्रिय कथाएँ, पृ.76

36. प्रेमचंद- कर्मभूमि, पृ.198

37. जयशंकार प्रसाद- तितली, पृ.236

38. गोविन्द् मिश्र- धूल पौधों पर, पृ.23

39. जयशंकर प्रसाद- ध्रुवस्वामिनी, पृ.26

40. सुरेन्द्र वर्मा- सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक, पृ.51

41. मृदुला बिहारी- मुक्ति पर्व, पृ.41

42. सं. धर्मवीर भारती- सीमन्तनी उपदेश- पृ.10

तीसरा अध्याय

हिन्दी महिला आत्मकथा साहित्यः
एक विश्लेषणात्मक अध्ययन
(स्त्री विमर्श के विशेष सन्दर्भ में)

3.1 पारिवारिक संदर्भ और स्त्री

परिवार समाज की एक आधारभूत इकाई है, जिसका अलग अस्तित्व और मूल्य है। परिवार की अवधारणा में स्त्री और पुरुष का समतुल्य योगदान और समान अस्तित्व निर्धारित है। लेकिन भारतीय सन्दर्भ में जब से पितृसत्तात्मकता जड़ जमाने लगी तब से परिवार में स्त्री का अस्तित्व क्षीण होने लगी। सामंतवादी समाज की पृष्ठभूमि में पितृसत्ता उग्र रूप धारण करके स्त्री को अपना गुलाम बना दिया। जिसके फलस्वरूप परिवार के रूप, संरचना, मुल्य और मान्यताएँ पुरुषोचित रूप में बदल गई, वहाँ स्त्री एक दासी, उपेक्षिता, गुलाम, भोग्या और वस्तू बनती रही। आज भी पितृसत्तात्मकता एक शक्तिशाली मिथक के रूप में मानव हृदय में इतनी जड़ जमाई है कि उससे स्त्री और पुरुष दोनों मुक्त नहीं हो पाए।

3.1.1 पितृसत्तात्मक परिवार में स्त्री की भूमिका

परिवार में पुरुषों ने अपने को 'अधिकारी' घोषित करके स्त्रियों को अपनी आज्ञाओं का पालन करनेवाली सेविका बना दिया। परिवार के लिए स्त्री, दासी, धोबिन, बच्चे पैदा करनेवाली मशीन, नर्स, रसोइया और पती के लिए वेश्या बनने का कार्य भी संभालती है। परिवार में स्त्री द्वारा किये जानेवाले हर कार्य और प्रयत्न को 'कर्तव्य' के नाम पर खारिज कर दिया जाता है। परिवार के हर कार्य संभालते हुए भी वहाँ अधिकारविहीन होकर, परिवार के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए स्त्री को अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं, संवेदनाओं और आत्मसम्मान की भी बली देनी पड़ती है। कवयित्री कात्यायनी के कथन इस विचार को मज़बूत बनाती है-''हर परिवार का ताना-बाना स्त्री की गुलामी और अस्मिता विहीनता की बुनियाद पर

खड़ा है, चाहे वह मध्ययुगीन पितृसत्तात्मक ढाँचेवाली सामंती संयुक्त परिवार हो या पूँजीवादी ढंग से संगठित परिवार।"[1]

हिन्दी की स्त्री आत्मकथाओं में भी परिवार के लिए सब कुछ त्यागनेवाली, संघर्ष करनेवाली, पारिवारिक जिम्मेदारियों को कर्तव्य समझकर जीनेवाली स्त्रियों की विवशता का चित्रण है। सुशीला राय की आत्मकथा 'एक अनपढ़ कहानी' में उन्होंने ससुराल में अपनी हैसियत को नौकरानी के साथ जोड़ते हुए कहा है "घर में मैं नौकरानी की तरह काम करती थी और किसी तरह टाइम पास करती थी। जेठ बाहर से आते थे तो पचास रुपए करके देते थे तो उसी से टिकुली, सिदूर खरीदती थी। पति जब कलकत्ता से आते थे तो मुझे उनसे बातचीत करने का मौका नहीं मिलता था। वह भी टाइम देकर मेरे साथ बैठना नहीं चाहते थे। रात को खाना खाने के बाद सो जाते थे। मैं तो एकदम बेसहारा थी, किसको मन की बात कहती?"[2] यहाँ शादी के बाद ससुराल में अस्तित्वहीन होकर जीनेवाली एक स्त्री की आत्मव्यथा है। मन्नू भंडारी ने 'एक कहानी यह भी' में अपनी माँ को व्यक्तित्वविहीन होकर, पूरी ज़िन्दगी परिवार के अन्य लोगों के लिए समर्पित करनेवाली, त्याग और सहनशक्ति की प्रतिमूर्ति का रूप बताया है। वे माँ को संबोधित करते हुए कहती है "हमारी बेपढ़ी लिखी व्यक्तित्वहीन माँ सवेरे से शाम तक हम सबकी इच्छाओं और पिताजी की अज्ञाओं का पालन करने के लिए तत्पर।"[3] पुरानी पीढ़ी की स्त्रियाँ पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा उन पर थोपी गयी सब ज़िम्मेदारियों को नतमस्तक होकर स्वीकार करना अपना धर्म मानती थी।

स्त्रियों को घर-गृहस्थी में कैदी बनाकर रखने के उद्देश्य से पुरुष वर्चस्व ने उसे 'घर-गृहस्थी की मालकिन' जैसी संज्ञा से विभूषित कर उसे लुभाते हैं। बेचारी स्त्रियाँ उस उपाधि से गर्व महसूस करती है। लेकिन गृहस्थी की मालकिन होते हुए भी परिवार के किसी भी मामलों में निर्णय लेने का अधिकार नहीं है और आर्थिक सहायता के लिए पति के सामने भीख माँगनी पड़ती है। प्रभा खेतान ने 'अन्या से अनन्या' में अपने प्रेमी डॉ.सर्राफ द्वारा उनकी पत्नी मिसेज सर्राफ को 'गृहस्थी की मालकिन' शब्द से विशेषित किया तो प्रभा जी ने उस विशेषण के पीछे छिपे निरर्थकता को यों व्यक्त करती है 'गृहस्थी की मालकिन' शब्द से मुझे हँसी आ जाती। मिसेज सर्राफ तो डाक्टर साहब के पास रहती है। परिवार के सदस्यों पर डॉक्टर साहब नैतिक निर्णय देते हैं। तब मिसेज सर्राफ क्या करती हैं? वह घर के चकले-बेलन को अपनी ढाल-तलवार बनाती है।"[4] अर्थात मालकिन शब्द पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा बनाया गया एक ऐसा मिथक है, जो स्त्री को हमेशा 'घर-गृहस्थी' में बन्द रखना चाहती है। ऐसी व्यवस्था के अंतर्गत मालिक एक ही होता है, और वह पुरुष ही है।

बचपन से ही स्त्रियों को यही सिखाया जाता है कि उनका कर्मक्षेत्र घर-परिवार है, और वहाँ खाना पकाना, बच्चों का पालन-पोषण करना, झाड़ू-पोंछा करना, कपड़े धोना सूखना आदि घर के जितने भी काम है सब के सब पूरी निष्ठा से संभालना है। ऐसी अनुकूलित स्त्री कभी भी पुरुषों को ऐसा काम करने नहीं देती। पुरुष द्वारा घर के काम संभालने से स्त्रियों में एक अपराधबोध जगती है। पुरुष और स्त्री के श्रम विभाजन को ऐसे ही स्वीकार करने में स्त्री अनुशासित हो जाती है। जैसे कुसुम अंसल जी ने बताया है "पूरा जीवन तपस्या जैसा बनता जा रहा था,

सुबह से शाम तक हम दोनों जी तोड़कर काम करते, वह बाहर का मैं घर का।"[5] सिर्फ स्त्री ही नहीं पुरुष भी इसी व्यवस्था में अनुशासित है तो वे कभी-भी स्त्री के कर्मक्षेत्र में झाँकने की कोशिश न करते। 'अन्या से अनन्या' में प्रभा खेतान कहती है "मुझे आज भी याद है, व्यापारिक बातचीत में हम लोग जब भी बैठते तब चाय बनाना मेरा काम रहता : सिर्फ इसलिए कि मैं औरत थीं। स्वाभाविक था यह काम न मिस्टर बासू करते न नीरज और डॉक्टर साहब?"[6] स्त्री-पुरुष के कर्म क्षेत्र का यह विभाजन ने पुरुष को ज़्यादा स्वतंत्र और ऐशेआराम से युक्त ज़िन्दगी प्रदान किया तो स्त्री को बिल्कुल अस्वतंत्र और तनावग्रस्त ज़िन्दगी। घर-गृहस्थी के काम को पुरुष मूल्यहीन और बेकार समझते हैं। लेकिन उसे निभाने में स्त्री कितनी हाड़-तोड़ मेहनत करती है, और कितनी चिंतित है, उसके बारे में कोई ध्यान नहीं देता। प्रभा खेतान ने अपनी माँ की परेशानी को ऐसे प्रस्तुत किया है "बरसात के मौसम में अम्मा परेशान हो जाती। कपड़े नहीं सूखते, बच्चों की बहती हुई नाक और खाँसी-बुखार एक ठीक हो तो दूसरा बीमार हो जाए। अम्मा सरदर्द लेकर पड़ जाती।"[7] ये ज़िम्मेदारियाँ स्त्रियों को शारीरिक और मानसिक रूप से कमज़ोर बनाती है। पुरुष चाहता है कि स्त्री हमेशा उनके ही नियंत्रण में रहें, उनके इच्छानुसार उनकी कामचलाऊ मशीन की भूमिका निभायें और जितने भी जुल्म होने पर, सब कुछ सहकर पति या पुरुष की आज्ञाकारिणी बनें। इसलिए पुरुष अनपढ़ और सहनशील स्त्रियों को अपनी पत्नी बनाना चाहते हैं ता कि वे कभी भी किसी भी मामले में उनका विरोध नहीं करती बल्कि उसकी दासी बनकर जीती है। रमणिका गुप्ता ने 'आपहुदरी' में पुरुष की ऐसी मानसिकता को अपने पति वेदप्रकाश की मानसिकता से ज़ोड़ने का प्रयास किया है- "प्रकाश अपनी भाभी को कुशाल गृहिणी, किफायत से

घर चलानेवाली, बच्चों में मग्न, नौकर की तरह खुद खटनेवाली, सवाल और बहस न करनेवाली, आदर्श स्त्री मानता था यानी ऐसी स्त्री जिसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता। व्यक्तित्ववाली पत्नी का सपना शायद प्रकाश की सोच के बाहर था।"[8] रमणिका गुप्ता एक ऐसी स्वतंत्र व्यक्तित्ववाली स्त्री है, जो घर की नौकरानी जैसा जीवन जीने में विरोध करती है। पति चाहते है कि पत्नी अपनी भाभी के तरह घर में रहकर घर के कार्य संभाले, बच्चों का देखभाल करें। रमणिकाजी ने जब नाटक में अभिनय करना शुरु किया तो पति को अच्छा नहीं लगता। वे पत्नी को घर में बाँध रखना चाहते है। शादी की मार्केट में अनपढ़ औरतों की माँग अधिक थी। पुरुष सत्ता मानती है कि शिक्षित औरतों अपने अस्तित्व के प्रति सजग होने के कारण घर में कैदी बनकर नहीं रहेंगी। चन्द्रकिरण सोनरेक्सा शिक्षित लड़की थी जो ब्याह के सिलसिले में उसके लिए अवगुण सिद्ध हुआ। लडकीवाले यही बताते हैं "आपकी लड़की बहुत पढ़ी-लिखी है, सारे गुण है, बहुत नाम पा लिया है। पर बहु हमारे लड़के के सिर पर पाँव रखकर आवे- यह हमें मंजूर नहीं।"[9] अर्थात उन्हें लड़की नहीं चाहिए, बल्कि अपने लड़के की ज़रूरतों और घर की ज़रूरतों को बिना कोई शिकायत के निभानेवाली एक गुलाम चाहिए।

परिवार में पुरुष की तानाशाही में बंद स्त्रियों को अपनी खुशियों और संवेदनाओं की तिलांजली देनी पडती है। मन्नू भंडारी प्रेमभरी ज़िन्दगी का सपना देखकर प्रेमविवाह के ज़रिए अपना परिवार बसाना चाहती थी लेकिन पति के अहंवादी और प्रेमविहीन व्यवहार ने उसकी ज़िन्दगी को चकनाचूर कर दिया। उनके प्रति राजेन्द्र की नज़रिए को वे यों प्रकट करती है- "राजेन्द्र की नज़रों में पत्नी एक नर्स की भाँति होना चाहिए जो सिर्फ पति की सेवा करे, बदले में उससे अपेक्षा कुछ

न करे।"[10] राजेन्द्र को प्रेम करने के लिए 'मीता' नामक एक प्रेमिका थी, जो स्वभाव से बहुत ही दबंग, अक्खड़ और डॉमिनेटिंग थी। अतः वह मीता को पत्नी बनाना नहीं चाहती। सामंतवादी नज़रिए रखनेवाले राजेन्द्र ने मन्नू जी से इसलिए शादी की ता कि वह मीता की तरह अक्खड़ और डॉमिनेटिंग नहीं थी। पुरुष अगर पुरानी पीढ़ी की हो या आधुनिक युग की शिक्षित पीढ़ी की, उन्हें परिवार बसाने के लिए ऐसी स्त्री चाहिए जो उनकी इच्छाओं को कर्तव्य समझकर, बिना कोई शिकायत या अपेक्षा के उसे पूरा करें। प्राध्यापिका के पद निभाती, प्रतिष्ठित स्त्री सुशीला टाकभोरे जी की हैसियत उनके पति के सामने सिर्फ एक नौकरानी की है। पति उनसे अक्सर कहते थे "तू मेरे सामने कुछ भी नहीं है। तेरी औकात सिर्फ एक बर्तन माँजनेवाली नौकरानी के बराबर है।"[11]

परिवार में स्त्री का धर्म सिर्फ रसोइया या परिचारिका तक सीमित नहीं थी बल्कि उसे भोग्या की भूमिका भी निभानी पड़ती थी। शादी के ज़रिए पत्नी पर पूरा अधिकार प्राप्त करनेवाले पति अपनी इच्छानुसार पत्नी को भोगते हैं। वहाँ कभी-कभी पत्नी को बलात्कार का शिकार भी होना पड़ता है। कृष्ण अग्निहोत्री ने अपनी आत्मकथा 'लगता नहीं है दिल मेरा' में अपने पति की कामोत्सुकता और अन्य लड़कियों के साथ उनके काम-संबन्धों का खुला चित्रण किया है। पत्नी को सिर्फ भोग की वस्तू के रूप में देखनेवाले पति की हरकतों को कृष्णजी यों प्रस्तुत करती है "आधी रात को शराब में धुत अग्निहोत्री जी घर आते ही मुझे पलंग से घसीट अंकशायिनी बना लेना चाहते। बस मैं यही नहीं सह पाती, विरोध करती और जमकर पिटती और बलात्कार को सह बेशर्मी से सो जाती।"[12] यहाँ शादी के बन्धन में बंधी एक स्त्री का पारिवारिक दायित्व है पति की कामवासना की पूर्ति पत्नी सिर्फ

भोग्या है। 'दोहरा अभिशाप' में कौसल्या बैसंत्री जी ने अपने पति के भोगवादी दृष्टिकोण को यों समझाया है "देवेन्द्र कुमार को पत्नी सिर्फ खाना बनाने और उसकी शारीरिक बूख मिटाने के लिए चाहिए थी।"[13] इस प्रकार माँ, बेटी, पत्नी, बहन, आदि जितने भी नाम से स्त्री जानी जाती हो सब के सब परिवार में एक कामचलाऊ वस्तू मात्र है। रमणिका गुप्ता जी ने अपने सामंतवादी संयुक्त परिवार में उनके नाना और मौसी के बीच के शारीरिक संबन्ध का चित्रण किया है "मुझे नहीं भूलता मौसी का नाना के बाहर वाले कमरे में चुपचाप चले जाना और सलवार टूँगते या गाल पोंछते बाहर आना। दोपहर में नाना के कमरे में केवल मौसी का बेरोक-टोक प्रवेश था, परिवार के बाकी सदस्यों को मनाही थी।"[14] चाहे बेटी हो, पत्नी हो, बहन हो परिवार में अपने पिता, भाई, पति और अन्य रिश्तेदारों द्वारा स्त्रियों का शारीरिक शोषण आम बात थी और बेचारी स्त्रियाँ परिवार की निष्ठा हेतु इसे सहने में अभिशप्त थी।

हमारी पारिवारिक व्यवस्था ने कभी भी स्त्री को एक व्यक्ति की हैसियत नहीं दी। परिवार में 'व्यक्ति' पुरुष मात्र है। मैत्रेयी पुष्पा ने 'गुडिया भीतर गुड़िया' में पति की अहंवादी मानसिकता और वर्चस्व ने कैसे उन्हें एक 'घरेलू औरत के रूप में परिवर्तित किया, उसका बखान दिया है। मैत्रेयी बेटी नम्रता से अपनी पारिवारिक पहचान के बारे में बताती है "मैं मिसेज शर्मा के सिवा क्या हूँ, बेटा? तेरे पिता की पत्नी... न औरत हूँ न मनुष्य, केवल पत्नी। इसी रूप में तेरे पिता के परिवार में शामिल हूँ। शान्त- सम्मानित जीवन भी खुद को भूल जाने के कारण मिला है।"[15] इन लेखिकाओं की आपबीती यह प्रमाणित करती है कि परिवार में स्त्री कभी-भी एक व्यक्ति नहीं बन पाती। परिवार की प्रतिष्ठा और बच्चों की खातिर स्त्रियाँ अपने

ऊपर हो रही क्रूरताओं को चुपचाप स्वीकार करने में मज़बूर हुई। लेकिन जूल्म जब चरमोन्नति पर पहूँचने लगी तो ये स्त्रियाँ परिवार में अपने अस्तित्व की लड़ाई शुरु करने लगी। परिवार में रहकर वह अपनी पहचान की ओर उन्मुख्र होती रही। उनकी लड़ाई कभी भी परिवार को तोड़ने के उद्देश्य से नहीं बल्कि पारिवारिक व्यवस्था को जनतांत्रिक रूप देने की ओर है, जिसमें स्त्री को एक व्यक्ति की गरिमा दें।

3.1.2 परिवार में लिंग-भेद से पीड़ित स्त्री

लड़कियों के प्रति तिरस्कार भावना और लड़कों के प्रति आदर, सम्मान और स्नेह हमारे पितृसत्तात्मक समाज की देन है। प्राचीनकाल से ही परिवार और समाज में स्त्री उपेक्षा का पात्र बन गई है जिसमें आज तक कोई बदलाव नहीं आया। लड़कियों के प्रति होनेवाले उपेक्षा भाव को मिटाने हेतु सरकार द्वारा कई सुधार कार्य और योजनाओं का प्रबन्ध किया गया है, जो एक हद तक दिलासा देने योग्य है। भ्रूण हत्या, लड़कियों की अशिक्षा, उनके परवरिश में भेद-भाव आदि विभेदकारी व्यवहारों से स्त्रियाँ गुज़र रही हैं। परिवार में ऐसे भेद-भाव का मूल कारण पितृसत्तात्मक व्यवस्था द्वारा बनाई गई मिथ्या धाराणाएँ है जिसमें स्त्री को जन्म से लेकर मृत्यू तक शिकार होना पड़ता है।

बच्चों के जन्म से ही लड़का-लड़की में भेद-भाव शुरु होता है। लड़के के जन्म होने पर खुशियाँ मनाई जानेवाले परिवार में लड़की का जन्म पाप और अपशुकन है। मैत्रेयी पुष्पा ने 'गुडिया भीतर गुडिया' में समाज की इस दोहरी मानसिकता को दर्शाया गया है। जब मैत्रेयी पुष्पा ने बेटी नम्रता को जन्म दिया तब घर में अपशकुन का संकेत देने के लिए 'तवा बजाने' लगी तो दूसरी ओर पडोसी घर में

लड़के के जन्म से 'थाली बजी' और मंगलगीत भी गाने लगी। लड़की का जन्म उल्लास का विषय नहीं बल्कि उपहास और अभिशाप का है। लड़की के प्रति होनेवाली इस निषेधी भावना के पीछे पितृसत्ता की ऐसी रूढ़ मान्यता है कि वंश चलाने के लिए और मरणोपरान्त दाहसंस्कार करने केलिए लड़के का होना अनिवार्य है। इसलिए लड़की को पैदा करनेवाली माँ 'कुलनाशिनी' बन जाती है और परिवार और समाज में उपहास का पात्र बन जाता है। पुरुष को अपनी गृहस्थी चलाने के लिए, शारीरिक भूख मिटाने के लिए और प्रेम करने केलिए स्त्री चाहिए, बल्कि उसी स्त्री का जन्म अपशकुन और जन्म देनेवाली स्त्री को 'कुलनाशिनी' और अपराधी बनाई जानेवाली सामाजिक व्यवस्था उसके प्रति क्रूर और अमानवीय है। मैत्रेयी पुष्पा इस भीषण स्थिति पर अपनी गहरा दुःख यों प्रकट करती है "यह मानवीय ढंग की वहशी शैली। कोटि-कोटि जन्मों के पुण्यों से मिलनेवाली मनुष्य योनि अगर पुरुष का रूप नहीं है तो माँ का गर्भ व्यर्थ। उसका प्रसव बेपीर नज़रों से देखा जाएगा।"[16] मैत्रेयी के पति नन्दलाल ने डॉक्टर होने के नाते, इसके पीछे की सारी वैज्ञानिकताओं को जानते हुए भी अपनी पत्नी और बच्ची से निषेधी व्यवहार किया।

मैत्रेयी पुष्पा की माँ कस्तूरी को भी ऐसी अवस्था को सामना करना पड़ा। कस्तूरी की माँ चाहती थी कि वह एक बेटे को जन्म दे ताकि ससुराल के खेत-खलिहानों को वारिश मिले। कस्तूरी ने पहले बेटे को जन्म दिया था लेकिन उसकी मृत्यू हुई। दूसरी बार बेटी हुई तो घर-परिवार में शोक मचाया। यहाँ यह तथ्य उभरकर सामने आता है कि स्त्री-पुरुष भेद-भाव की संकल्पना मानव हृदय में इतनी ज़ोर पकड़ी है कि पुरानी पीढ़ी की मानसिकता से आज की शिक्षित पीढ़ी भी मुक्त न हो पाई। क्योंकि आज भी लोग पहले बच्चे के रूप में बेटे को चाहते हैं। बेटे के

स्थान पर बेटी होगी तो लोग दूसरों के सामने खुशी दिखाते है लेकिन अन्दर ही अन्दर कूथते रहते हैं। जब मैत्रेयी के पति ने बेटी की जन्म पर अस्पताल में मिठाई बाँटी तो उनके सहयोगी मित्रों ने लड़की के जन्म पर भी मिठाई देने को आश्चर्य से देखा। बच्चों के जन्म से शुरु होनेवाले यह भेद-भाव उसके पूरे जीवन में इतना फैल गया है कि मृत्यू तक उसे भोगना पड़ता है। 'कस्तूरी कुंडल बसें' में कस्तूरी की माँ अपने बेटों के भविष्य और स्वास्थ्य के प्रति बहुत ही चिंतित थी। जब कस्तूरी ने शादी से मना किया तो माँ उसे डाँटती हुई कहती थी कि अपने भाइयों के सिर पर बोझ बने बैठती है। उस समय के सामंतवादी परिवेश में अंग्रेज़ों को लगान चुकानी पड़ती थी। लगान से बचने के लिए कोई न कोई रास्ता ढूँढनी पडती थी। कस्तूरी के भाई ने एक शरीफ आदमी से आठ सौ रुपये वसूल करके बहन की शादी पक्का किया जिससे लगान और नीलामी कुर्की से भी बच गई, और माँ की डर भी खत्म हुई। बेटी से ज्यादा बेटों की भलाई चाहनेवाली माँ के बारे में कस्तूरी खुद कहती है "माँ बेटी को ज़रूर असीस दे रही होगी, क्योंकि वह बेटों का शुभ चाहती है।"[17]

लड़कियों की परवरिश को लेकर भी समाज में भेद-भाव व्याप्त है। उनके खाने-पीने, वस्त्र, पढ़ाई आदि ज़रूरतों को नज़रअंदास करते हैं। जबकि लड़कों को बढ़िया भोजन और अच्छे कपडे, उच्चशिक्षा आदि की सुविधा प्राप्त की जाती है। एक ही माँ की कोख से जन्म लेने पर भी लड़कियों के साथ ऐसा भेदभाव अपमानजनक है। सुशीला टाकभौरे लिखती है "पिता का और भाइयों का माँ अधिक ख्याल रखती थी, इस बात पर मैं माँ से झगड़ा करती थी।"[18]

लड़कियाँ आज भी समाज में असुरक्षित है। शायद इसी कारण से माँ-बाप लड़कियों को घर के बाहर खेलने-कूदने को मना करते हैं। लड़के घर परिवार में पूर्ण

स्वतंत्र है। लेकिन लड़कियाँ हमेशा परिवारवालों के अनुशासन में कैद हैं। मन्नू भंडारी ने बचपन की अपनी यादों को यों उकेरा है "यों खेलने को हमने भाइयों के साथ मिलती- डंडा भी खेला और पतंग उडान, कोच पीसकर माँजा सूतने का काम भी किया, लेकिन उनकी गतिविधियों का दायरा घर के बाहर ही अधिक रहता था और हमारी सीमा थी घर।"[19]

लड़कियों को पराया धन माननेवाले समाज उनकी शिक्षा पर अधिक ध्यान नहीं देता और सोचता है कि लड़के ही पढ़-लिखकर नौकरी करके घर को संभाल सकते हैं और माँ-बाप का देखभाल भी। लड़की शादी करके दूसरे घर में जाती है और मायके से संबन्ध काटती है। इस प्रकार संपत्ति का अधिकार भी लडकों के हाथ में आ जाता है। पति के अत्याचारों से तंग आकर कृष्णा अग्निहोत्री जी बेटी को लेकर मायके लौटी तो माँ-बाप के लिए वह बोझ बन गई। बेटी से अधिक प्यार करनेवाले पिता जब वह शादी के बाद पति से झगड़ा करके मायके लौटती तो उसे घृणा करते है। जब कृष्णाजी पिता की संपत्ति में अपने हिस्से को माँगा तो पिता ने असहमती प्रकट की। उसमें उनकी माँ की प्रतिक्रिया थी "मैं नहीं चाहती की मेरे बेटे के हिस्से में कोई भी बाहर का व्यक्ति भागीदार हो, बेटी भी नहीं।"[20] शादी के बाद बेटी, माँ के लिए पराई हो गई। यही है लिंग-भेद की परंपरा का सबसे क्रूर और निकृष्ट रूप। परिवारवाले लड़कियों को शिक्षा देने के बजाय जल्दी ही जल्दी उसे शादी कराने की तैयारी करते हैं। सुशीला राय अपने परिवारवालों की ऐसी मानसिकता के प्रति शिकायत करती है "मेरे माता-पिता को मेरे जन्मते ही यह चिंता लग गई कि मेरा विवाह कैसे होगा। लेकिन यह चिंता नहीं हुई कि लड़की काली है तो पढ़-लिख लेगी तो इतना परेशान नहीं होना पड़ेगा। जबकि पिताजी तो पढ़े-लिखे

थे। पिताजी को तो पढ़ाई की चिंता करनी चाहिए थी लेकिन वे पढ़ाई की चिंता छोड़कर शादी की चिंता करने लगे।"[21] कभी-कभी गरीब परिवारों में शादी का खर्च और दहेज की समस्याओं से त्रस्त लोग लड़की के जन्म को पाप का फल मानते थे। 'कस्तूरी कुण्डल बसै' में कस्तूरी की माँ ने शादी के लिए मना करनेवाली कस्तूरी को कोसती हुई कहती है "भगवान क्यों जन्म देता है लड़कियों को? लोग कहते हैं, लड़कियाँ पापों के फल होती है, वे फल विषफल भी हों तो आदमी क्या करे?"[22] कौसल्या बैसंत्री की माँ ने लगातार पाँच बेटियाँ को जन्म देने का दुःख ऐसा प्रकट किया है "देवा मैं ने ऐसा कौन सा पाप किया था कि मेरे नसीब में लड़कियाँ ही लिखी है।"[23]

संवैधानिक रूप से स्त्री और पुरुष हर क्षेत्र में बराबर है तथा लिंग के आधार पर स्त्रियों के साथ किसी भी प्रकार का भेद-भाव नहीं किया जा सकता। ऐसे संवैधानिक बल होने पर भी स्त्रियाँ भेद-भाव की कडवी घूँट पीती आ रही है।

3.1.3 परिवार में बनाई जानेवाली स्त्रियाँ

सीमोन द बोउवर ने 'दि सेकैड़ सेक्स' में बताया है "स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि बनाई जाती है।"[24] अर्थात लड़की और लड़के में भले ही जैविक विषमताएँ तो है लेकिन मानसिक और बैद्धिक क्षमता से दोनों भिन्न नहीं है। स्त्री जन्म से ही स्त्री नहीं होती बल्कि समाज और परिवार द्वारा वह स्त्री बनाई जाती है। पितृसत्तात्मक मूल्यों के प्रचार-प्रसार का प्रमुख संस्था है परिवार। परिवार में रहकर ही स्त्री सबसे पहले पितृसत्ता को जानती है और स्त्री को स्त्री के रूप में निर्मित करने में परिवार की अपनी भूमिका है।

हर बच्चे के व्यक्तित्व विकास का पहला पड़ाव परिवार है जिसमें लड़की के पैदा होते ही उसे दोयम दर्जे का बना रहने के लिए वातावरण तैयार करता है। लड़कियों को बचपन से ही अनुशासित किया जाता है कि उन्हें कैसे बैठना है, कैसे चलना है, कैसे बातें करनी है,... आदि। परिवार में वे हमेशा यही सुनते रहते हैं कि तुम लड़की हो, लड़कियों को ऐसा नहीं करना चाहिए, लेकिन लड़के एकदम आज़ाद। बचपन से ही लड़कियों को शिकंजे में डालने की कोशिश शुरू हो जाती है। प्रभा खेतान की माँ उन्हें हमेशा डाँटती रहती थी कि "ठीक से चलो, क्या पैरों की धम-धम आवाज़ करती चलती हो? शउर से बैठ... कूबड़ क्यों निकाल लेती हो? क्या खो-खो लगा रखी है? खाँस रही हो तो खाँसे ही जा रही हो....। और यदि वह खाँसी दबाने की कोशिश करती तो वे कहती है कि क्या गाय की तरह गरगार रही है...?"[25]

परिवार में लड़कियों को लड़की बनाने का पूर्ण दायित्व वहाँ की स्त्रियों पर निर्भर है। आमतौर पर बुजुर्ग स्त्रियाँ पितृसत्तात्मक मूल्यों की संवाहिका की भूमिका निभाती आ रही है। अधिकांश परिवारों में लड़कियों के मन में लड़की होने की चिंता जगाने का काम माँ ही करती है। लड़का अपना वंश चलानेवाला होने के कारण घर में अलग अस्तित्व रखता है, लेकिन अस्तित्वविहीन ज़िन्दगी का पाढ पढ़ती लड़कियों को बचपन से ही 'विवाह' और उसके अन्दर के व्यवहार के प्रति सचेत करती है। सुशीला टाकभोरे जी लिखती है कि बचपन से ही वह माँ और दादी से यही सुनती रहती है कि "लड़कियाँ तो चिरैया है, समय आते ही उड़कर परदेस चली जायेंगी... लड़कियाँ उनकी ससुराल की अमानत है, पाल-पोस के उन्हें लौटा देंगे।"[26] लड़की को पुरुष के अधीन रखने का दोहरा पड़ाव है विवाह। उसके लिए स्त्रियों को तैयार

कराने की साजिश बचपन से ही शुरू हो जाती है। ससुराल जाकर घर- गृहस्थी का सारा काम निभाना पड़ता है। इसलिए अपने ही घर में रसोइया के रूप में प्रशिक्षण दिया जाता है। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा जी 'पिंजरे की मैना' में कहती है कि जब भी माँ द्वारा घर के काम में हाथ बंटाने को कहते तो वह तुरन्त बाबूजी के पास जाकर शिकायत करती थी और बाबूजी उसे घरेलू औरत बनाना नहीं चाहते थे इसलिए उनकी माँ अक्सर कहती थी "भगवान की दया है कि यह मेरे पेट की जायी है, वरना इसकी शिकायत पर तो इसके बाप मेरा सिर कलम कर देते... अच्छा है। ससुराल जाकर आटे-दाल का भाव मालूम पड़ेगा लाड़ली को; सास के तानों से अक्ल ठिकाने आ जायेगी और बाप का सारा दुलार आँखों से बह निकलेगा।"[27] अर्थात ससुराल में पूर्ण प्रशिक्षित एक रसोइया के रूप में प्रवेश करना पड़ती है, नहीं तो सास-ससुर की मार खानी पड़ेगी। यह भी नहीं लड़की ऐसी न बनी तो उसका बदनाम भी माँ को झेलना पडती है। सुशीला टाकभौरे जी कहती है कि शादी के बाद ससुराल में जाते समय माँ ने उसे ऐसी सलाह दी है "बेटी, किसी बात की जिद नहीं करना। जैसे बोलें वैसा करना। सबकी बात सुनना। किसी को किसी बात का जवाब नहीं देना। सबकी सेवा करना, सबका सम्मान करना। हमारे नाम की बदनामी नहीं कराना।"[28] अतः परिवार उन्हें ऐसा संस्कार सिखाया जाता है कि ससुराल में सबका गुलाम बने रहना, सबके आज्ञानुसार घर का सारा काम बिना कोई शिकायत के निभाना। ऐसा न करने से परिवारवालों को बदनाम मिलेगा। कृष्णा अग्निहोत्री ने भी अपनी माँ के व्यवहार को ऐसा प्रस्तुत किया है "माँ आठ-नौ वर्ष की लड़की को रसोईघर में ढकेल देती, कहती, 'लड़की हो, ब्राह्मण कुल में पैदा हुई हो, घर का काम-काज न सिखोगी तो क्या ससुराल जाकर हमारी नाम

कटवाओगी।"[29] बचपन से ही लड़कियों के मन में यह विचार थोपा जाता है कि लड़की की प्रतिष्ठा ससुराल में 'घरेलू-औरत' की भूमिका भली-भाँति निभाने में होती है।

लड़कियों को घरेलू-औरतें बनाने के लिए उन्हें शिक्षा से वंचित रखने की साजिश भी परिवार में चलती है। दुःखिनीबाला द्वारा रचित 'सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी' में सरला की भाई मोहन को पढ़ाने के लिए घर में मास्टर को रखा तो सरला ने भी अपने पठने की इच्छा बाबूजी से प्रकट की। तुरन्त सरला की माँ ने ऐसा जवाब दिया "वाह, बिटियों के पढ़ाने का कौन चोंचला है। लड़कियाँ भी कहीं पढ़ती है? क्या तुम्हें भी वहीं नौकरी करनी है?"[30] सरला की अम्मा को उनके पूर्व पीढ़ी की औरतों ने यही संस्कार दिया कि लड़की पढ़ने और नौकरी करने योग्य नहीं है, उनका काम घर-परिवार का देखभाल और पति की सेवा करना है। पितृसत्तात्मक समाज ने स्त्रियों के लिए जो नियम-कायदे बनाये गये है उसे यथा तथा पालन करने में स्त्रियों की बड़ी भूमिका है। ऐसी स्त्रियाँ आज भी पितृसत्तात्मक समाज की चंगुल में फँसकर उसे बनाये रखने में व्यवस्था के दलाल का काम करती आ रही है। इस प्रकार परिवार और समाज द्वारा सिखायी जानेवाली मर्यादाओं को 'स्त्रीत्व' के गुण से परिभाषित करके स्त्रियों को स्त्री बनाने की सामाजीकरण की प्रक्रिया में परिवार का बहुत बड़ा हाथ है।

3.1.4 परिवार में यौन शोषण की शिकार होती स्त्री

'परिवार' नामक संस्था को स्त्री के शोषण व उत्पीड़न की सबसे बड़ी कार्यशाला कहा जा सकता है। अतः यहीं से स्त्री-शोषण का पहला पाठ शुरू हो जाता

है। परिवार में सबसे ज्यादा शोषित, पीडित और अपमानित प्राणी है स्त्री। सामान्यतः समाज में एक ऐसी गलत धारणा है कि स्त्री का शारीरिक या यौन शोषण परिवार के बाहर अन्य सामाजिक क्षेत्रों में होता है, लेकिन अपने ही परिवार में स्त्रियाँ अपने पिता, भाई, नाना, दादा, पति आदि की कामवासना की शिकार हो जाती है। परिवार की प्रतिष्ठा हेतु या हीनभावना, या अपराधबोध से स्त्री उसे चुपचाप सहती है और परिवार में होनेवाले यौनशोषण उसकी पारिवारिक जिम्मेदारी हो जाती है।

"महिला एवं बाल विकास मंत्रालय के नाशनल स्टडी ऑन चाइल्ड एब्यूज-इंडिया 2007 के ऑकडे के मुताबिक देश भर में 53.22 प्रतिशत बच्चे किसी न किसी रुप में यौन-शोषण के शिकार हो जाते हैं।"[31] अर्थात युवतियों से ज्यादा मासूम बच्चियाँ ही इसका शिकार हो रही है, क्योंकि निष्क्रिय और नाबालिग बच्चे अपने ऊपर होनेवाले इस शोषण के प्रति अनभिज्ञ हैं। कृष्णा अग्निहोत्री जी के बचपन में घर के नौकर लालकुंवर पिता के मित्र, पडोस का लड़का अवतार सिंह आदि पुरुषों ने शारीरिक शोषण करने का प्रयास किया। जब वह छोटी बच्ची थी तब पड़ोस का लड़का अवतारसिंह उसे गोदी में बैठाकर चूमने लगा तो वह छूटकर भाग गई। घर के नौकर लालकुंवर से भी ऐसा बुरा अनुभव हुआ। जब कभी उनके माता-पिता कहीं जाकर देर से लौटते तो लालकुंवर बच्चों को कहानियाँ सुनाकर उन्हें सुला देता है और उन मासूम बच्चों के हाथों में अपने गुप्तांग को पकड़ा देता है। ऐसी हरकतों से घबराकर बच्चों ने लालकुंवर के पास जाना बन्द किया। लेकिन ये सब बातें माँ-बाप से बताने का साहस बच्चों में नहीं था। पुरुष दंभ की नाइनसाफी के प्रति विरोध प्रकट करते हुए लेखिका कहती है "आज सोचती हूँ कि लड़की का कोमल भोला

बचपना भी क्या पुरुष से सहन नहीं होता, वह उसे भी अपने गंदे सुख हेतु चीर देने को आतुर रहता है।"[32] घर में अपने ही चाचा द्वारा भी ऐसी हीन हरकतों का शिकार भी होना पडा। ऐसे व्यवहारों से आत्मपीडित कृष्णाजी ने सब के सब अपने अन्दर ही समेट लिया।

रमणिका गुप्ता ने 'आपहुदरी' में बचपन से यौनशोषण का शिकार होकर अपराधबोध से पीडित, कुंठाग्रस्त जीवन जीने की अपनी विवशता का खुलासा किया है। बचपन में रामू नामक नौकर द्वारा रमणिका का शारीरिक शोषण हुआ। माँ-बाप उसे राम के पास छोड़कर पार्टियों में जाया करते थे और उनके रात में देरी से लौटने पर राम रमणिका को अपने बिस्तर पर सुलाया जाता था। एक दिन सुबह उठकर देखा तो अपने सलवार शरीर पर नहीं था। इसी प्रकार मास्टर पूरनचंद भी धमकी देकर लगातार यौन-शोषण करते थे, जैसे एक बार बलराम नामक लड़के का प्रेम पत्र आया तो मास्टर जी ने पकड़ लिया और माँ-बाप से कहने की धमकी दी और इसकी आड में शोषण ज़ारी रखा। रमणिकाजी अपनी असहाय स्थिति का ब्यौरा यों प्रस्तुत किया है "मुझे मास्टर को देखकर डर लगता था। वह डर मेरी मजबूरी बन गया था डर घृणा में बदल गया। उसका चेहरा देखकर ही मैं घृणा से भर जाती थी लेकिन उसके सांप का जहर एक नशे-सा मुझ पर चढ़ने लगा था। फिर मास्टर का चेहरा गौण होता गया और रह गया सांप। तबसे मैं बिना चेहरेवाली उस हरकत में इतना लिप्त हो गयी कि वह एक आदत बन गयी, जो छूटती न थी। बस एक हरकत, जिसका कोई चेहरा नहीं था। मेरी वह मज़बूरी, मेरा आदत में बदल गयी। उस हरकत से मुझे नफरत थी, पर वह मेरी ज़रूरत बनती जा रही थी।"[33] अपने ही ताऊजी का मंझला बेटा हरबंसलाल बेदी ने भी

रमणिका को शारीरिक रूप से इस्तेमाल किया। परिवार में पुरुषों द्वारा यौन-शोषण की शिकार होती रमणिकाजी कभी-कभी अपनी भाभी की कामवासना का भी पात्र हो जाती है। रमणिका जी की भाई पढ़ाई के नाते अक्सर विदेश में रहते थे, इसलिए उनकी भाभी उससे लेस्बियन रिश्ता रखना चाहती थी। भाभी की हरकतों को वे बिल्कुल बुरा मानती थी। जिसके बारे में लेखिका कहती है "भाभी मुझे खींचकर अपने बिस्तर पर घसीट लेती। मुझे चूमती-चाटती और अपनी देह की भूख मिटाती। मैं कुछ बोल नहीं पाती थी, जो भाभी कहती, मैं करती जाती, पर मुझे उनका यह सब करना बिल्कुल भी अच्छा नहीं लगता था।"[34]

बचपन में कदम-कदम पर दैहिक शोषण की शिकार बनती रमणिका अपराधबोध और हीनताबोध जैसे मानसिक बलात्कार का शिकार होती रही। लेखिका कहती है "हालंकि मेरा दैहिक शोषण तो कई बार हो चुका था और ज़ारी था, जो संभवतः ऐसे परिवारों की लड़कियों के साथ होना आम बात है।"[35] अतः परिवार जैसी सामंतवादी संस्था में स्त्रियाँ भोग की वस्तु मात्र थी, चाहे वह नन्हीं सी मासूम बच्ची हो, युवती हो या बूढ़ी। पुरुष को सिर्फ स्त्री के शरीर चाहिए या उसकी योनी चाहिए, जिससे अपनी वासना की पूर्ति कर सकें। निरन्तर होनेवाली यौन-शोषण स्त्रियों को मानसिक रूप से इतनी कमज़ोर बनाती है कि उससे मुक्ति पाने के लिए कभी-कभी आत्महत्या की रास्ता अपनाना पड़ती है। बचपन से ही यौन शोषण को सहती आ रही रमणिका जी का मन यौन उत्पीडन जैसे अपराधों के प्रति संवेदनशून्य होने लगा। ऐसे शोषणों को बिना प्रतिरोध के एक आदत के रूप में वह स्वीकार करने लगी। अपनी इसी मानसिकता को रमणिका जी यों स्पष्ट करती है "धमकी और फुसलाने की प्रक्रिया ने मेरे भीतर छिपे सारे आदर्शों या उपराध-बोध

के अहसास को ही खत्म कर दिया या कहूँ कि अपराधों के प्रति संवेदनहीन बना दिया। मेरे अन्दर न जाने कितना विष जमी हो गया, मर्दों की पूरी जमात के खिलाफ! ताऊ के लड़के की हरकत, नाना के नौकर की हरकत और अब इस मास्टर की हरकतें अपनी नज़रों में मुझे गिराती थीं। फिर हरकतों का सारा विरोध ही खत्म हो गया।''[36]

परिवार में यौन-शोषण की शिकार होती स्त्रियाँ परिवार की बदनामी या खुद की बदनामी के डर से सब कुछ खुलकर बता नहीं हो पाती। समाज ने उसे यही सिखाया था कि स्त्री सिर्फ 'देह' है, जो पुरुषों के लिए बनाई गई है। इसलिए सब कुछ चुप-चाप स्वीकार करें। प्रभा खेतान भी बचपन में अपने भाई के द्वारा बलात्कार की शिकार बनी थी। बचपन में मिली यही चोट ज़िन्दगी भर में अपराधबोध से पीड़ित घुटनभरी ज़िन्दगी जीने में उसे मज़बूर करती है। जब प्रभा के साथ ऐसा हुआ तो उनकी दाई माँ ने उससे कहा कि ये बात किसी से भी न कहना, अपने होनेवाले पति से भी। अतः दादी उससे खामोश रहने की सलाह देती है। लेकिन खामोश रहने का यह पाठ उसे बलात्कार से ज़्यादा आघात पहूँचानेवाला था। वे लिखती हैं ''खामोशी का पाठ पढानेवाला कभी सोचता नहीं कि ये हिदायतें औरत को कितना-कितना अकेला कर जाती हैं। इन हिदायतों के कारण औरत जिस जाल में उलझती है उसी में उलझती चली जाती है।''[37] परिवार में रिश्तेदारों से ही नहीं बल्कि अपने ही पति द्वारा बलात्कार की शिकार होती रहती थी कृष्णा अग्निहोत्री। कामपिपासू पति ने पत्नी को सिर्फ एक सेक्स का उपकरण मानते हुए अपनी शारीरिक भूख मिटाने के लिए उसे मार-पीटकर भोग करते थे। सुरक्षा का वादा देकर विवाह रुपी संस्था के ज़रिए बसानेवाले परिवार में स्त्री की सुरक्षा का सवाल

निर्थक लगता है। आज के वर्तमान संदर्भ में एक हद तक स्त्रियाँ अपने ऊपर होनेवाले यौन-अत्याचारों को सामाज के सामने खुलकर बताने का साहस दिखाती है। स्त्रियों के प्रति होनेवाले इन अत्याचारों को रोकने के लिए संवैधनिक सुरक्षा का प्रबंध तो है बल्कि कभी-कभी सत्ताधारियों के षडयंत्र और कानून में फैली 'लूपहॉलस' के ज़रिए यह असफल हो जाता है।

3.1.5 पुरुष की वर्चस्ववादी एवं अहंवादी मानसिकता की शिकार होती स्त्री

हमारे समाज में रूदियों से चली आ रही पितृसत्ता में पुरुष के वर्चस्व स्थापित थे, लेकिन वहाँ स्त्री, पुरुष के निचले पायदान की मानी जाती थी। अपने वर्चस्व को बनाये रखने केलिए, वे स्त्री को दबाकर रखने की साजिशें रचते हैं। स्त्री आत्मकथाओं में परिवार में पुरुषवर्चस्व की शिकार स्त्रियों का आत्मरोदन है। पुरुष वर्चस्व के चंगुल से घुटन भरी ज़िन्दगी जीने में विवश स्त्रियाँ अपने को मुक्त करने के लिए छटपटाती है।

कृष्णा अग्निहोत्री ने 'लगता नहीं है दिल मेरा' में पत्नी के प्रति पति सत्यदेव की मानसिकता को यों प्रस्तुत किया है "तू मेरी सहगामिनी नहीं, तू स्त्री नहीं, मेरे लिए विवाह मंत्रों के द्वारा खरीदी दासी है, जिसे केवल मेरे इशारों व मनमाने व्यवहार के सम्मुख सिर झुकाना है।"[38] पति सत्यदेव पत्नी को अपना गुलाम बनाकर, उस पर हमेशा अधिकार स्थापित करने के लिए कोई न कोई कारण ढूँढ निकालते थे। कभी वे कृष्णा के पूर्व प्रेमी के बारे में कहकर या कभी पड़ोसी लड़का आलोक के साथ अनैतिक संबन्ध का झूठी आरोप लगाकर उसे गालियाँ देते थे और पुलिस के डंडे से मारना उनकी आदत बन गई थी। पति के वर्चस्ववादी व्यवहार का

ब्यौरा कृष्णाजी ने ऐसा दिया है "यदि आम का मीठा अचार बनाया है तो मीठा कटहल क्यों नहीं बना, नाश्ते में मठरी है तो मुंगौड़े होने चाहिए थे, मुंगौड़े बने तो कचौड़ी होनी थी। त्रुटि ढूँढकर मुझे कमज़ोर बनाने में ही शायद पति का पतित्व सुखी व संतुष्ट होता। रात सदैव मेरे लिए परीक्षा की ही रहती। दुर्गंध उल्टी। अनाप-शनाप व्यवहार, उल्टा-सीधा बकना, गाली-गलौज, अस्वीकृति पर पिटाई।"[39]

मन्नू भंडारी ने 'एक कहानी यह भी' में पति राजेन्द्र की अहंवादी एवं सामंतवादी मानसिकता से तंग आकर अपने लेखन कार्य को समाप्त करने की विवशता की ओर पाठकों का ध्यान खींच लिया है। घर-परिवार की ज़िम्मेदारियों को नज़रअन्दाज करके आत्मतुष्टि के लिए जीनेवाले राजेन्द्र यादव ने अपनी पत्नी मन्नू भंडारी को ज़िन्दगी भर में सिर्फ यातनाएँ ही दी। मन्नूजी के शब्दों में "मेरे पास आज अगर कुछ है तो हर दिन के साथ बढ़ती छटपटाहट और लगातार रिसते-टूटते आत्मविश्वास की कचोट।"[40] पति की अहंग्रस्त सामंतवादी व्यवहार ने अपनी जीवनसाथी को शारीरिक और मानसिक रूप से इतना कमजोर बना दिया कि वह कभी भी उससे उभर न पायी। ऐसी मानसिक यंत्रणाओं से गुजरते उन्हें अपनी लेखनी तक समाप्त करनी पड़ी। राजेन्द्रजी ने कभी भी मन्नूजी से एक जीवन साथी जैसा व्यवहार नहीं किया। परिवार के सभी कार्य, आर्थिक कार्य भी मन्नू के कंधों पर छोड़ दिया ताकि वे स्वतंत्र हो गये। लेखकीय व्यक्तित्व की अहंभावना ने उसे नौकरी करने से रोका। अपनी बेटी के सन्दर्भ में भी वह दायित्वहीन होकर बैठा। बेटी के जन्म, लालन-पालन, विवाह आदि पर राजेन्द्र जी का योगदान बिल्कुल नहीं के बराबर थे। जब मन्नूजी घर संभालने के लिए नौकरी पर जाती तो बच्ची का देखभाल करना उन्हें आयागिरी लगता था, जो उसकी अहंभावना पर चोट

लगानेवाली थी। एक बार टिंकू को मीज़ल्स निकली तो मन्नूजी ने उनसे दवाई लाने को कहा तो वे साहित्य अकादमी की मीर्टिग का बहाना कर उषाप्रियंवदा से मिलने गए। शादी के बाद पति-पत्नी दोनों ने मिलकर 'एक इंच मुस्कान' उपन्यास लिखना शुरु किया। पहला अध्याय राजेन्द्र का था और दूसरा मन्नू जी का। मन्नू जी के अध्याय पर पाठकों द्वारा खूब प्रशंसा मिली तो राजेन्द्र उस पर नाराज़ हुआ। पति हमेशा चाहते है कि वह, पत्नी से उत्पर रहे। जब ज्ञानोदय के संपादक शरद देवडे ने मन्नूजी के प्रशंसावाले पत्रों को लाकर ज़ोर-ज़ोर से पढकर राजेन्द्र को भी सुनाया तो उनके अहं वे रोक नहीं पाये। और कहते हैं "देखो देवड़ा, एक बात अच्छी तरह समझ लो कि मेरे लेखन में गंभीरता है, गहराई है, चिन्तन है... तुम क्या सोचते हो.....।"[41]

परंपरागत पुरुषवर्चस्ववादी समाज में परिवार का भरण-पोषण करनेवाले को ही परिवार में वर्चस्व और प्रभुत्व है। इसी के नाते पत्नी को घर के चारदीवारी में कैदी बनाकर रखते हैं और पति काम पर जाते हैं। लेकिन राजेन्द्र जी परिवार की जिम्मेदारियों से पूर्ण रूप से स्वतंत्र थे। पुरुषवर्चस्व की ऐसी विचारधारा से ओतप्रोत राजेन्द्र जी के मन में तब एक हीन भाव जागने लगा और यही हीनभाव उसे अपनी प्रेमिका मीता के बीच के संबन्ध को और भी दृढ़ बना दिया। घर गृहस्थी के लिए दिए जानेवाले पैसे से या कभी लेखन से प्राप्त पैसे से वे, मीता के साथ कहीं घूमने-फिरने जाते थे तो अपनी हीनताग्रन्थी से मुक्त होकर आत्मविश्वास और अधिकार से भरा एक पूर्ण पुरुष बन जाते थे। इस प्रकार अपने की श्रेष्ठ और विशिष्ट माननेवाले पति की अहंभावना ने राजेन्द्र और मन्नू जी को अलग-अलग खेमों में रहने को मज़बूर किया।

प्रभा खेतान ने 'उपनिवेश में स्त्री' में लिखा है कि "स्त्री का अमानवीयकरण दलित के अमावीयकरण से कहीं ज्यादा सूक्ष्म है, क्योंकि दलित पुरुष भी तो पितृसत्तात्मक व्यवस्था का सदस्य है और पुरुषोचित अहंकार के कारण स्त्री का शोषण और उत्पीड़न करने से वह भी बाज नहीं आता।"[42] इसका उत्तम उदाहरण है सुशीलाजी के पति सुन्दरलाल टाकभौरे। वे अपनी पत्नी को अपने पैरों की जूती मानते हैं। कभी-कभी वे सुशीलाजी से कहते हैं- "मेरे पैरों पर अपना सिर रखकर माफी माँग, तब मैं तेरी बात मानूँगा।"[43] दलित स्त्रियों को दलित होने के साथ-साथ पुरुषवर्चस्व के दोहरे शोषण भी सहना पड़ता है। कौसल्या बैसंत्री अपने पति देवेन्द्र कुमार के दंभी स्वभाव का वर्णन करती है "देवेन्द्र कुमार सिर्फ अपने ही घेरे में रहनेवाला आदमी है। गर्म मिजाज और जिद्दी। अपने मुँह से कहता है कि मैं बहुत शैताना आदमी हूँ। उसने मेरी इच्छा, भावना, खुशी की कभी कद्र नहीं की। बात-बात पर गाली, वह भी गंदी-गंदी और हाथ उठाना। मारता भी था क्रूर तरीके से।"[44]

पत्नी को हमेशा अपने ही नियंत्रण में रखना चाहते है मैत्रेयी पुष्पा के पति। परिवार के सभी मामलों में अंतिम निर्णय पति का होता था और वे हमेशा अपनी पत्नी पर अवैध संबन्ध का आरोप लगाकर उसे मानसिक रूप से प्रताडित करते थे। पत्नी के प्रति पुरुष की दोहरी मानसिकता को मैत्रेयी ऐसे परिभाषित करती है "स्त्री मूर्ति के सामने मुग्ध पुरुष, भोग के समय अपना सर्वस्व रख सकता है, क्योंकि आज्ञाकारी बालक-सा-हो जाता है। लेकिन जब बराबर की दावेदारी हो तो भीतर-ही-भीतर शत्रुभाव से देखता है।"[45] पति-पत्नी के यौन-संबन्ध में भी पति की सक्रियता और पत्नी की निष्क्रियता का पाठ है। शिष्टता और लज्जा से भरी

कमनीयता पत्नी की अनिवार्य योग्यताएँ है। मैत्रेयी जी ने सेक्स संबन्धी इस रुढ़ी को तोड़ने का प्रयास किया और सेक्स में सक्रिय रुप से भागीदार होकर अपने पति को पूर्ण सुख देने में सफल निकली। यौन-सुख को भोगने के बाद पति, पत्नी की इस सक्रियता पर सवाल उठाने लगे। इससे अपनी निष्क्रियता पर हीनभाव और पत्नी के प्रति संदेह का उदय हुआ। पुरुषवर्चस्ववादी परिवार में स्त्री पारिवारिक रिश्तों के नाम से जानी जाती है। शादी के बाद अपने ही नाम से वंचित मैत्रेयी कभी 'मिसेज शर्मा' या 'मंटी की बहु' बनकर जीने में विविश थी। वे अपनी बेटी से कहती हैं "धीरे-धीरे मेरे वजूद पर डॉ.शर्मा की पत्नी हावी होती गई और मैं कमजोर हो गई बबली... कमजोर ऐसी, जैसे प्रसव के बाद किसी माँ का शरीर ढ़ीला हो जाता है। और वह भयग्रस्त सी.... अपनी ताकत चुक जाने के बाद अपना अस्तित्व यहाँ-वहाँ खोजने लगती है। बस, तेरे डैडी ही मेरी पहचान..."[46] शारीरिक उत्पीड़न से ज्यादा आघात पहूँचता है मानसिक उत्पीड़न से। पुरुष स्त्री को हमेशा अपने से नीच या बुद्धिहीन समझते है या ऐसा बनाते हैं। इसके लिए वे गालियाँ देते समय ऐसे शब्दों का इस्तेमाल करते है, जिससे स्त्री अपने को हीन समझें। मैत्रेयी के पति अक्सर उन्हें 'पागल' और 'गँवार' शब्दों से संबोधित करते थे।

पद्मा सचदेव ने 'बूँद बाँवड़ी' में स्त्रियों के प्रति मर्दों की रवैया को यों कहा है "मर्द इश्क करता है। मर्द का इश्क औरत के लिए दुनिया का सबसे खूबसूरत करिश्मा है। सबसे सुन्दर वस्तु है, दाय है, पर मर्द के अहंकार को कोई स्त्री नहीं तोड़ सकी। अगर उसका अहंकार टूट भी जाता है तो भी वे इसे कभी स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उसके पुरखों ने मर्द को ये शिक्षा दी है कि स्त्री पाँव की जूती होती है, छोटी-बड़ी हो जाए तो उसे उतार फेंक। नई खरीद लो। गंठवा लो।"[47] पुरुष

वर्चस्व की नज़र में स्त्री एक वस्तु मात्र है जिसे जब चाहे खरीद सकते हैं, इस्तेमाल कर सकते हैं और फेंक सकते हैं, इससे बढ़कर ओर कुछ नहीं।

सामंतपरिवारों में पुरष, स्त्री को भोगवादी नज़रिए से देखते हैं। रमणिका गुप्ता जी के पापा, पटियाला रियासत में डॉक्टर थे। जो कई स्त्रियों से शारीरिक संबन्ध रखते थे। सामंती परिवारों में पुरुषों को इतनी छूट मिलती थी कि किसी भी समय पर किसी भी स्त्री से संबन्ध रख सकते हैं जिसमें कोई नैतिक-अनैतिक की समस्या नहीं होती। खासकर रियासतों में परिवार की अन्य स्त्रियाँ चाहे पत्नी हो, माँ हो, बहन हो ऐसे प्रसंगों को बड़ी सहजता से लेति थी और मर्दों की इस ऐस्याशी के खिलाफ प्रतिरोध भी नहीं करती, बदले में ये सब मर्दो की मदोनगी के गुण माने जाते थे। रमणिका के पति प्रकाश को पत्नी के नाटक में अभिनय करना, वह भी नायिका की भूमिका निभाना अच्छा नहीं लगता। वे उसे अपनी शकी निगाहों की शिकार बनाते रहे हैं। लेखिका के शब्दों में "मैं ने प्रकाश से पूर्ण विश्वास की उम्मीद की थी, पर मिली शंका। एक तरफ मेरा व्यक्तित्व खुद को अभिनय, नृत्य और उच्चशिक्षा के माध्यम से अभिव्यक्त करने के लिए उतावला था, दूसरी तरफ प्रकाश का शक मेरे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति पर रोक लगाना चाहता था।"[48]

स्त्री आत्मकथाओं में एक ओर आधुनिकता का मुखौटा धारण करनेवाले शिक्षित पुरुष वर्ग की वर्चस्ववादी क्रूरताओं का पर्दाफाश किया है तो दूसरी और आज की युवा पीढ़ी की बदलती मानसिकता को भी पाठकों के सामने रखने का प्रयास किया है। जैसे मन्नू भंडारी ने अपने दामाद दिनेश के व्यवहार से इसे सार्थक सिद्ध किया है। जैसे उनकी बेटी टिंकू कत्थक सीखने के लिए अपनी दोनों नन्हीं बेटियों को पति के साथ छोडकर अहमदाबाद गई तो, उस पर नाराज़ होनेवाली मन्नू

जी से दामाद का उत्तर था "क्यों, टिंकू बच्चियों को पाल सकती है तो क्या मैं नहीं पाल सकता? और मुझे कहा से कहा पर फोन करके टिंकू को कुछ मत कह दीजिए वरना वह परेशान हो जाएगी। वह गई है तो उसे मन लगाकर सीखने दीजिए।"[49] यह उत्तर बहुत ही आशावादी है, क्योंकि आज की युवा-पीढ़ी ने स्त्री-पुरुष समानता के लिए कदम उठायी है।

3.1.6 परिवार के प्रति स्त्री की मानसिकता

भारतीय संदर्भ में परिवार की अपनी महत्वपूर्ण भूमिका है। परिवार से हमारा जो रिश्ता है वह बहुत ही संकीर्ण भी है। स्त्री के सन्दर्भ में परिवार अत्याचार का कटघरा है जहाँ उन्हें किसी न किसी रूप में शोषण की शिकार होनी पड़ती है। लेकिन कुछ सन्दर्भ में परिवार स्त्री के लिए शरणालय की भूमिका भी निभाती है। जितने भी जुल्म और अत्याचार हो फिर भी परिवार के प्रति स्त्री की संवेदनाएं उसे वहीं रहने के लिए प्रेरित करती है। लेकिन पारिवारिक व्यवस्था के सभी मूल्य पुरुष के अनुकूल एकतरफा होने के कारण वहाँ स्त्रियों की ज़िन्दगी नरकतुल्य बन जाती है। ऐसी ज़िन्दगी से छुटकारा पाने के लिए स्त्रियाँ पारिवारिक मूल्य व्यवस्था में परिवर्तन की माँग करती है। जिसके लिए उन्हें संघर्ष की रास्ता अपनाना पड़ती है।

प्रभा खेतान के शब्दों में "परिवार अब भी स्त्री की सबसे मज़बूत ज़मीन है। यह उसका अपना निजी क्षेत्र है। अपनी ज़मीन पर खड़ी होकर वह जितनी मज़बूरी से आनेवाले समय का सामना कर सकती है, उतना अन्य किसी ज़मीन पर नहीं। अब परिवार का कर्ता स्त्री बने या पुरुष ही रहे, पारिवारिक अधिनायकवादी हो या जनतांत्रिक, यह अलग चिंतन का विषय है।"[50] अतः पारिवारिक संरचना के

अधिनायकत्व को समाप्त करने के लिए स्त्रियों को परिवार में ही खड़े होकर संघर्ष करना अनिवार्य है।

हिन्दी की स्त्री आत्मकथाओं में एक ओर पारिवारिक ज़िम्मेदारियों को अपना कर्तव्य समझकर निभानेवाली या परिवार को साथ में रखते हुए, पारिवारिक मूल्यों के प्रति संघर्ष की रास्ता अपनाते हुए अपने अस्तित्व को बनाये रखनेवाली स्त्रियाँ है तो दूसरी ओर 'परिवार' को नकारते हुए व्यक्तित्व विकास में परिवार और पारिवारिक उत्तरदायित्व को बाधा माननेवाली स्त्रियाँ भी है। मन्नू भंडारी, कुसुम असल, मैत्रेयी पुष्पा, सुशीला टाकभौरे, कृष्णा अग्निहोत्री, सुशीला राय आदि लेखिकाएँ अपने अस्तित्व के प्रति सजग होते हुए भी परिवार के घेराबंदी में फँसकर अपनी ज़िन्दगी को तोड़ना नहीं चाहती। बल्कि उन्होंने परिवार में ही रहकर अपने अस्तित्व के लिए लड़ाई की। इस लड़ाई में उन्हें कभी-कभी अपने पारिवारिक संबन्धों से टकराना पड़ती है। जैसे मन्नू भंडारी, कृष्णा अग्निहोत्री, पद्‌मा सचदेव, रमणिका गुप्ता, कौसल्या बैसंत्री आदि लेखिकाएँ विवाह-विच्छेद के ज़रिए अपने को परिवार से मुक्त करती है। शादी के बाद हुई पति के वर्चस्ववादी व्यवहार ने इन स्त्रियों को ऐसा करने में प्रेरित किया है। अधिकांश स्त्रियाँ अपने बच्चों के ख़ातिर सब कुछ सहने को तैयार हो जाती है, लेकिन जब अत्याचार असहनीय हो जाती है तब संबन्ध विच्छेद की रास्ता अपनाती है।

मन्नू भंडारी लिखती है "जैसे-जैसे मेरा लेखक निर्जीव और निष्क्रिय होता गया, मेरे भीतर की स्त्री सजीव होती चली गई, अपना पूरा वजूद पाते ही उस स्त्री के लिए न साथ रहना संभव रह गया था, न उस संबन्ध को निभा पाना-सो वह साथ छूटा-सम्बन्ध टूटा। पर इसमें कोई संदेह कि अगर मैं राजेन्द्र के साथ रही तो उनके

प्रति अपने गहरे लगाव के कारण रही और यदि अलग हुई तो अपनी मुक्ति के लिए।"[51] पति की अहंवादी और प्यारविहीन संबन्ध से अपने परिवार को बनाये रखने में असफल मन्नू जी को अपने भाई-बहिन के स्नेह और सहयोग हमेशा ही मिलता रहा था। इस स्नेह और आत्मीयता ने उसे जीने की ओर प्रेरित किया था। उन्होंने अपने परिवार के संबन्ध में बहुत ही गर्व महसूस किया "जीवन में मिली अनेक नियामतों में से एक है घने रूप से जुड़ा-गुंथा मेरा यह परिवार, जिसमें सगे-चचेरे का कभी कोई भेद ही नहीं रहा-एक के संकट को सबने अपना संकट माना तो एक की ख़ुशी सबको पुलकित करती चली गई। बहुत बड़ी शक्ति रही है यह मेरी, पाँव के नीचे की ठोस ज़मीन।"[52]

शादी के बाद बिल्कुल परिवर्तित और विपरीत परिस्थितियों में पड़ी कुसुम असल ने पति के प्यार और सहयोग के बिना भी पत्नी और माँ रूपी अपने कर्तव्य को भली-भाँति निभाया। वे कहती है "सच तो यह है कि मेरे संसार में मेरे बच्चे हैं और उनके भविष्य में मेरे सहयोग की अपेक्षा गुंथी है। मैं अपने सदा के विक्षिप्त मन को समझाती हूँ कि मेरे कंधे उस जुए को सावधानी से साधे रखें, जिसे परिवार ने मेरे केधों पर रखा है।"[53] कृष्णा अग्निहोत्री जी भी विवाह और पारिवारिक जीवन को बहुत ही श्रेष्ठ मानती थी। इसलिए शादी के बाद कामलोलुप पति की मार-पीट और बलात्कार से पीड़ित होते हुए भी उन्होंने बिना कोई प्रतिरोध के कई साल पति के साथ यंत्रवत जीवन जिया। अपने बेटी के नाते वह सब कुछ सहने में मज़बूर हुई। लेकिन पति के व्यवहार दिन-ब-दिन बिगडता जा रहा था तो वे उससे अलग होने का निर्णय लेती है।

अस्तित्व के प्रति जागरुक स्त्रियाँ परिवार और पारिवारिक जिम्मेदारियों को बाधा मानते हुए उससे छुटकारा पाना चाहती है। आर्थिक कठिनाई से बचने के लिए नौकरी पर जाना और घर-गृहस्थी का काम संभालना, बच्चों का पालन-पोषण करना आदि में व्यस्त स्त्री परिवार में पुरुष का प्रेम और सहभागिता चाहती है। लेकिन वहां उन्हें प्रताड़नाएँ और अत्याचार ही प्राप्त हैं। आधुनिक स्त्री पारिवारिक व्यवस्था के इस अमानवीय ढाँचे में उलझना नहीं चाहती और वह 'पारिवारिक' या 'वैवाहिक बंधन' के बिना उन्मुक्त जीवन जीना चाहती है। स्वतंत्र जीवन जीने में उसे अधिक आस्था है। पितृसत्ता द्वारा निर्मित पारिवारिक मान्यताओं का उल्लंघन करते हुए उन्मुक्त जीवन का आह्वान करनेवाली स्त्रियाँ है, रमणिकता गुप्ता, मैत्रेयी की माँ कस्तूरी और प्रभा खेतान। इन लेखिकाओं ने बचपन से लेकर अपने परिवार में जो भोगा, उसके मुताबिक परिवार के प्रति उनकी आस्था टूटने लगी। वे 'विवाह' और 'परिवार' को नकारते हुए शिक्षा के ज़रिए आगे बढ़कर आर्थिक रुप से आत्मनिर्भर होकर स्वतंत्र जीवन जीने की ओर उन्मुख थी। पढ़ाई के बीच में शादी करने के लिए हठ करती मैत्रेयी को समझाते हुए माँ कस्तूरी कहती है "पढ़ाई के बीच शादी का झमेला पाल बैठीं। सोचा कि आगे क्या होनेवाला ज़िन्दगी- भर सिर नहीं उठा पाओगी। बच्चों का पालन और पति की खिदमत, यही तो स्त्री-धर्म माना गया है।"[54] पुरानी पीढ़ी की कस्तूरी की चिंता इतना प्रगतिशील और विस्फोटक लगती है, जो उनकी जिन्दगी के कटु अनुभवों का प्रतिरोध है। बचपन से ही प्यार से वंचित, अपने ही भाई द्वारा यौन-शोषण के शिकार बनी प्रभा खेतान ने एक शादी-शुदा व्यक्ति, डॉ. सर्राफ से प्रेम करके 'विवाह', 'परिवार' और 'मातृत्व' को चुनौती देकर अपनी ज़िन्दगी को सार्थक बनाने का साहस दिखाया। वे पूछती हैं कि "क्या

घर, पति और एक बच्चे के बिना मैं अधूरी हूँ?”[55] भारतीय समाज में एक स्त्री की पूर्णता वैवाहिक संस्था के अंतर्गत एक बच्चे को जन्म देने में से माना जाता है। लेकिन इन सबसे वंचित, प्रभाजी ने व्यवस्था के प्रति विद्रोह के रूप में अपनी ज़िन्दगी को आगे बढ़ाया। वे कहती है “हाँ, मैं ने लकीर से हटकर व्यवस्था के प्रति विद्रोह किया किन्तु वह मुझे अकेले का विद्रोह था। जन-आन्दोलन में मैं कभी नही उतरी। कैरयरपरस्ती में लगी हुई स्त्री के किसी जुलूस में शामिल होने का सवाल ही नहीं उठता।”[56]

भारतीय सन्दर्भ में परिवार बसाने के लिए पति-पत्नी और बच्चे अनिवार्य माना जाता है। चाहे किसी भी स्त्री परिस्थितिवश पत्नी नहीं बन पाती या माँ नहीं बन पाती तो वे समाज द्वारा उपेक्षित हो जाती है। रमणिका गुप्ता जी ऐसी स्वतंत्र व्यक्तित्ववाली स्त्री है, जो परिवार और बच्चों के पालन-पोषण को स्त्रियों के अस्तित्व निर्मिति में बाधा मानती है। बच्चा पैदा न करने के उद्देश्य से उन्होंने अपना ऑपरेशन करवा दिया। क्योंकि वे अधिक बच्चे नहीं चाहती थी, और नृत्य व अभिनय में रुचि के कारण अपने शरीर को चुस्त-दुरुस्त रखना चाहती थी, ओर एक कारण थी उनमुक्त रूप से सेक्स करने की इच्छा ताकि बच्चा पैदा होने के डर से बच सकती। रमणिका की इस सोच के पीछे उनकी अपनी ज़िन्दगी ही जिम्मेदार है। क्योंकि शादी के पहले लगातार दैहिक शोषण के शिकार बनती रमणिका जी ने अपने प्रेमी वेदप्रकाश से शादी करके घर-परिवार में शांत-सम्मानित जीवन जीने की उम्मीद रखती थी। लेकिन पति की अहंवादी और पत्नी पर होनेवाली शंकी स्वभाव से पारिवारिक जीवन में कोलाहल मचने लगा। पति चाहते है कि पत्नी अपने घर-गृहस्थी और बच्चों का देखभाल करके घर में ही गुजरें, लेकिन अपने व्यक्तित्व

निर्माण की ओर अग्रसर रमणिका जी पारिवारिक पिंजरे से अपने को मुक्त करके व्यवस्था के प्रति विद्रोह की रास्ता अपनाने हुए आगे बढ़ी। अपनी स्वतंत्रता में अवरोध पैदा करनेवाली सारे नैतिक मान्यताओं, रुढ़ियों और मिथ्या धारणाओं को तोड़ने में उसे विशेष रुचि थी। वे आह्वान देती है कि अपने उत्थान के लिए स्वयं स्त्रियों को सचेत होना है और अन्याय के विरुद्ध प्रतिरोधी रवैया अपनाना है। स्त्री को ऐसे विरोधी तेवर अपनाने में मजबूर करनेवाले सामाजिक व्यवस्था को बदलना ज़रूरी है। परिवार में पुरुष के अधिनायकत्व को समाप्त करके पत्नी को भी व्यक्ति का दर्जा देकर बराबरी की स्थापना करना ज़रूरी है।

3.2 सामाजिक सन्दर्भ और स्त्री

भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति बहुत ही दयनीय है, क्योंकि एक ओर भारतीय संविधान उन्हें एक नागरिक की हैसियत देने का प्रयास कर रहा है तो दूसरी ओर परंपरागत पितृसत्तात्मक सामाजिक मानसिकता उन्हें स्वीकार करने के बदले कुचल डालने का प्रयास कर रही हैं। पुरुष प्रधान समाज की निरंकुश मानसिकता ने स्त्री को हमेशा के लिए हाशियेकृत रखना चाहा। इस हाशियेकरण की प्रक्रिया में पितृसत्ता ने जाति, धर्म, शास्त्र और सत्ता को हथियार के रुप में ले लिया है। जिसके द्वारा वे मनचाहे ढंग से मूल्यों का निर्माण और उसमें परिवर्तन भी करते रहें, जो पुरुष के पक्षधर और स्त्री के लिए प्रतिपक्षी थे। स्त्री आत्मकथाओं में पितृसत्तात्मक समाज द्वारा स्त्री के शोषण के लिए बनाई गई संस्थाओं और उनमें फँसकर गुलाम की तरह जीनेवाली स्त्रियों की व्यथाओं, सामाजिक रुढ़ियों, अन्धविश्वासों और अनैतिक मान्यताओं के प्रति प्रतिरोध के मार्ग से आगे बढ़ती स्त्रियों, और उनके प्रति समाज की दोहरी मानसिकता का भी खुला चित्रण हुआ है।

3.2.1 विवाह संस्था में शिकार होती स्त्री

स्त्री के सन्दर्भ में विवाह एक अनिवार्य विकल्प रहा है, जिसमें उस के लिए आर्थिक, सामाजिक सुरक्षा, देह संबन्धों की वैधानिक मान्यता और सामाजिक सम्मान आदि की अवधारणा निहित है, मगर देख सकते हैं कि इस सूत्र से स्त्रियों को अधिक दबाव में रखने की कोशिश चल रही है। विवाह के लिए बनाए गये नियम और उसमें मौजूद मान्यताएँ समानता की नहीं बल्कि एकपक्षीय है, वे सब पुरुष वर्चस्व को बढ़ावा देनेवाले है।

3.2.1.1 बालविवाह

विवाह संस्था का सबसे क्रूरतम रुप है 'बालविवाह', जिसमें लड़कियों की बाल्यावस्था में ही शादी कराया जाता है। माँ-बाप द्वारा लड़कियों को छोटी उम्र में ब्याह दिए जाने के पीछे छिपी गलत धारणाएँ है कि कम उम्र में विवाहित लड़कियाँ नए परिवार में आसानी से समायोजित हो जाती हैं, यौन-उत्पीड़न के डर, प्रेम संबन्धों में फँसने का डर आदि से भी बच सकते हैं। कभी-कभी परिवारवालें धन बचाने या धन पाने की लालच में भी लड़कियों को बालविवाह कराये जाते हैं।

स्त्री आत्मकथाओं में बालविवाह से जुडी कई समस्याओं का उद्‌घाटन हुआ है। सुशीला राय जी की शादी भी छोटी सी उम्र में हुई थी। जब वे नौ वर्ष की थी तब उसकी शादी के बारे में परिवार में खूब चर्चा होने लगी थी। उनके जन्म से ही परिवारवालों को यह चिंता सताने लगी कि काले रंगवाली होने के कारण शादी में दिक्कत होगी क्योंकि बदसूरत लड़की को लड़का मिलना मुश्किल है। सुशीला को छोटी सी उम्र में शादी करवाने का कारण स्पष्ट करते हुए वे कहती है "मैं नौ वर्ष

की थी तभी मेरी शादी करने के लिए मेरे पिताजी बहुत उतावले थे क्योंकि उन्हें लगता था कि मैं किसी लड़के को पसंद नहीं आऊँगी। दूसरे उनका यह मानना था कि लड़की की शादी मासिक धर्म शुरु होने से पहले हो जानी चाहिए। तीसरे वह कन्यादान करके आपने कर्तव्य से मुक्ति पा लेना चाहते थे।''[57] आज भी समाज ऐसी रूढ़ मान्यताओं से मुक्त नहीं हो पाया, बाल विवाह भी अधिक मात्रा में चोरी-चुपके हो रही है।

दुखिनीबाला की सरला एक विधवा की आत्मजीवनी बाल विवाह और विधवा जीवन पर आधारित आत्मकथा है। बाल्यावस्था में हुई अपनी शादी के बारे में वे बताती है- ''उस समय अवस्था मेरी बहुत कम थी। सुनती हूँ कि मैं 7 या 8 वर्ष की थी। घर में चारों ओर धूम-धाम थी। चारों ओर आदमी दिखाई देते थे। क्योंकि बाबूजी ने अपने सब गाँवों से आदमियों को बुलवा लिया था। मेहमानों का भी खासा मजमा था। खूब चहल-पहल थी। यह सब मेरे विवाह की-जिसका अर्थ तब तो क्या अब तक मैं नहीं समझी हूँ-तैयारी थी।''[58] अतः शादी के अर्थ और आवश्यकता के बारे में बिल्कुल अनभिज्ञ भोली-भाली लड़की को समाज विवाहिता का पद देकर उनके बचपन और यौवन को चकनाचूर कर देते हैं। सरला को अपने पति के नाम और रूप भी याद नहीं। शादी के बाद बारात के चले जाने पर वह विवाहिता समझी जाने लगी, छह-सात साल बाद ससुराल से खबर आयी कि उनके पति मर गए तब से 'राँड' या 'विधवा' के नाम से जानने लगी। बालविवाह की शिकार होनेवाली लड़कियाँ जल्दी ही विधवा बन जाती है क्योंकि उनके पति बूढ़े या बीमार व्यक्ति होता हैं इसलिए जल्दी मृत्यु हो जाती है और लड़की को विधवापन से जूझना पड़ता है।

3.2.1.2 अनमेल विवाह

विवाह संस्था का और एक घिनौना रूप है अनमेल विवाह। माँ-बाप द्वारा आर्थिक दुरवस्था से बचने के लिए छोटी सी लड़कियो की अधेड़ उम्रवाले पुरुषों से शादी संपन्न की जाती है। ऐसे वैवाहिक जीवन में प्यार, ही नहीं होता बल्कि शरीरिक और मानसिक विषमताएँ पैदा होती है।

'कस्तूरी कुण्डल बसै' में कस्तूरी की शादी भी ऐसी ही एक दुर्घटना थी। कस्तूरी ने शादी करने से सख्त विरोध प्रकट किया था, लेकिन जिस सामाजिक विधान से डरकर वह शादी से बचना चाहती है वह स्त्री के प्रति उतना दयालू और कमज़ोर नहीं था। जब अंग्रेज़ों के लगान से बचने के लिए कस्तूरी घर की दो कलशियाँ बनिए को बेचकर आठ आने प्राप्त करती है तो नीलामी और कुर्की से बचाव हुआ। उस समय वहाँ बैठी अंधेड उम्रवाले पुरुष कस्तूरी के भाई को आठ सौ रुपए देकर कस्तूरी से उनकी शादी पक्का करता है। सोलह साल की कस्तूरी पैंतीस वर्ष के बीमार हीरालाल की पत्नी बन जाती है। ऐसे वैवाहिक संबन्ध में प्यार की गुंजाईश न होना स्वाभाविक हैं, क्योंकि पति, पिता के उम्रवाले बूढ़े है और जवान पत्नी के चरित्र पर अकारण संदेह करना, उसके नाम पर झगड़ा करना आम बात बन जाती है। जब बीमार पति की मृत्यू होती है तब छोटी सी उम्र में 'वैधव्य' की शिकार भी हो जाती है। ज़िन्दगी भर में 'विधवा' होने की मानसिक उत्पीड़न से उसे गुज़रना पड़ता है।

सुशीला टाकभौरे जी की शादी भी अपने से अठारह साल बडे व्यक्ति के साथ हुई थी। ऐसी शादी को उन्होंने इसलिए चुप-चाप स्वीकार किया कि "पति बूढ़ा,

बीमार, कोढी, कलंकी, वेश्यागामी कैसा भी हो पूजनीय पति होता है।"[59] धार्मिक कथाओं और धार्मिक फिल्मों से उन्होंने यही सिखा था। उम्र का यह अन्तराल पति-पत्नी के बीच मानसिक और बौद्धिक वैषम्य का कारण बन जाता है, यह उनकी ज़िन्दगी में हमेशा दरारें पैदा करता रहा है।

3.2.1.3 बहुपत्नी प्रथा

एक पुरुष का अनेक स्त्रियों से विवाह 'बहुपत्नी विवाह' कहलाता है, जो प्रायः आर्थिक कठिनाईयों के कारण आज भी उपलब्ध है।

दिनेश नंदिनी डालमिया जी के पति बडे उद्योगपति और अमीर शख्स थे। उन्होंने अपने जीवन में छःह शादियाँ की। उनकी पहली दो शादियों के बाद, बाद की चार बीवियों से शादी से पहले प्रेम संबन्ध रखता था। वे बहुत ही रसिक और स्त्रियों पर रुचि रखनेवाले व्यक्ति थे। बारह साल की उम्र में उनकी पहली शादी हुई। पहली पत्नी नर्मदा भी बारह साल की थी। दो-तीन साल में ही नर्मदा की मौत हो गई। इसके बाद दूसरी शादी दुर्गा से की। राजस्थान की उभरती हुई कवियत्रि दिनेश नंदिनी डालमिया उनकी छठी पत्नी थी। अपने घर-परिवार को आर्थिक कठिनाई से बचने के लिए ही दिनेश नंदिनी जी इस शादी के लिए तैयार हुई। वे लिखती है "जिसकी दुल्हन मैं बनने जा रही हूँ, वह कई संतानों का पिता और कई स्त्रियों का भर्ता भी है। मन ही मन मैं शरमा गयी। आँखें बंद होने पर भी चेहरे पर कठोरता और करुणा एकसाथ व्यक्त हुई। आज की कुंवारी कल बारह बजे से पहले एक ऐसे व्यक्ति की दुल्हन बनने जा रही थी जिसके बारे में जितना भी सुना वह निश्चय ही एक होनेवाली वधू के अनुकूल नहीं था।"[60] यहाँ बहुपत्नी विवाह की

शिकार होनेवाली एक स्त्री की विवशता का चित्रण है। उनकी शादी पति के इच्छानुसार गुप्त तरीके से ही बनारस में गंगा के किनारे पर स्थित घर में हुई थी। शादी के बाद पहली बार ट्रेन में सास से मिली तो उन्होंने नंदिनी को अपराधी या दोषी ठहराते हुए उमें हीन व्यवहार किया। चाहे गलती पुरुष की हो फिर भी गाली और दोष स्त्री को ही सहना पड़ता है। दिनेश नंदिनी जी अपने पति के बहु विवाह के प्रति विरोधी भावना यों व्यक्त करती है "एक विवाह मनुष्य का धर्म है, आवश्यकता है, पर उससे अधिक विलास है, पैसेवालों की तफरीह है। कभी-कभी एक ही चेहरे से उकताकर दूसरे की तमन्ना होती होगी- यह सब इसलिए हो सकता था कि हमारे शास्त्रकारों ने स्त्री का स्वतंत्र अस्तित्व माना ही नहीं। वह ऐसा सामान थी, जिसको किसी भी दर्जे के डिब्बे में रख्र निर्विरोध एक गाँव से दूसरे गाँव ले जाया जा सकता था।"[61] अतः पुरुष वर्चस्व के सामने स्त्री मात्र एक सामान है जो जब चाहे अपने इच्छानुसार उपयोग कर सकते हैं और फेंक भी सकते हैं।

3.2.1.4 दहेज प्रथा

वैवाहिक जीवन की जड़ें 'दहेज प्रथा' पर आधारित है। भारत में चाहे उच्चवर्ग हो, मध्यवर्ग हो या निम्नवर्ग, हर समाज में दहेज देना या लेना एक अनिवार्य प्रथा बन गई है। लड़की की सौगत दहेज के वज़न पर निर्भर होती है। लड़की को दहेज देने के लिए माता-पिता के पास धन-धौलत का होना ज़रूरी है। मध्यवर्गीय एवं निम्नवर्गीय परिवार में आर्थिक अभाव के कारण लड़कियों की शादी कराना जोख्रिख्र भरा काम हो जाता है।

सुशीला राय की शादी भी दहेज के आधार पर तय हुई थी। उसके पिता विवाह के कर्ज पर बहुत ही चिंतित थे, फिर भी उन्होंने दहेज में कोई कमी होने नहीं

दी। ससुरालवाले ने पिताजी से दहेज के रूप में जो कुछ भी माँगा, वे सब दे दिया। जैसे सुशीलाजी बताती है “पिताजी ने लड़केवालों को कहा कि आप लोगों की क्या-क्या माँग है, बताइए, तो उन लोगों ने साइकिल, घड़ी, रेड़ियों तथा बर्तन- भाँड़े और भैंस की माँग की।”[62] उच्चवर्गीय समाज से ज्यादा निम्न जाति के लोग ही शादी के सन्दर्भ में होनेवाली ऐसी कुप्रथाओं को प्रोत्साहित करके उन्हें मज़बूत बनाते हैं।

दहेज में कमी होने के कारण अधिकांश स्त्रियाँ ससुराल में सास, पति और ननद से शारीरिक और मानसिक रूप से शोषित और पीड़ित हैं। सुशीला टाकभौरे जी को दहेज के नाम पर सास और ननद की गालियाँ हमेशा मिलती रही थी। वे लिखती है “मेरे प्रति ईर्ष्या-द्वेष से भरकर ननद बातें सुनाती थी- ‘दहेज में कुछ नहीं मिला, नीच खानदान की है.. कुछ काम करना नहीं आता... बिल्कुल भेताड़ है... कितनी अच्छी लड़कियों के रिश्ते थे, खेड़े की लेड़ी ले आये हैं, पागल है, मूर्ख है।”[63] यहाँ स्त्रियों द्वारा स्त्रियों के शोषण हो रहा है। अधिकांश परिवारों में सास और ननद ही ऐसी कुप्रथाओं के नाम पर अपनी ही जाति को खतरे में डालने को आगे आती है। ऐसी स्त्रियाँ अपनी अज्ञान और अशिक्षा से पितृसत्तात्मक सामाजिक मूल्यों को सुस्थिर बनाने की कसम खाती है।

3.2.1.5 वैधव्य और स्त्री

जिस स्त्री के पति की मृत्यू हो जाती है वह विधवा कही जाती है और भारतीय समाज में उस की स्थिति बहुत ही दयनीय है। उन्हें परिवार और समाज द्वारा तिरस्कृत किया जाता है। विधवा जीवन की विषमताओं और त्रासदियों का पर्दाफाश स्त्री आत्मकथाओं में हुआ है।

विधवाओं की समस्या बालविवाह और अनमेल विवाह की समस्या से जुड़ी हुई है। बालविवाह के कारण पति की मृत्यू के बाद बाल्यावस्था में ही उसे वैधव्य भार से जूझना पड़ता है। छोटी सी उम्र में ही वैधव्य की शिकार बनी स्त्री है 'सरला'। शादी के बाद उम्र में बहुत छोटी होने के कारण सरला अपने घर में ही रहती है। कुछ साल बाद पति की मृत्यू होने पर समाज द्वारा 'राँड' की उपाधि से उपेक्षित रखने की साजिश चलती है। पति की मृत्यू का दोषारोप भी उन्हें सुनना पड़ता है। जब सरला पति की मृत्यू के बाद दो-तीन दिन के लिए ससुराल गई तो वहाँ की स्त्रियाँ द्वारा यह सुनना पड़ा। "अरे, यह बड़ी कुलक्षिनी मालूम होती है, इसी से तो इस अभागिनी का पैर आते ही यह सोने का घर राख हो गया।"[64] ससुराल में किसी ने भी उनकी ओर ध्यान नहीं दिया। वे सब उनसे ऐसा बर्ताव करते है कि घर में कोई छूत आ गई है, और सभी उनसे दूर रहना पसंद करते हैं।

विधवाओं को सामाजिक व धार्मिक कार्यक्रमों के सारे अनुष्ठानों से वंचित रहना पड़ता है। उच्चवर्ग की अपेक्षा निम्न वर्ग में विधवा विवाह का प्रचलन था। कौसल्य बैसंत्री की आजी की शादी बाल्यावस्था में हुई थी। पति की मृत्यू के बाद उन्हें दूसरी शादी करने में कोई रोक-टोक नहीं थी, लेकिन दूसरी शादी की विधि अलग थी और इसे विवाह न कहकर 'पाट' कहते थे। उसमें सारे रस्मों के साथ शादी संपन्न हो जाती है, अपने समाज की विधवाओं की स्थिति पर नजर डालते हुए लेखिका कहती है- "विधवा घर के किसी शुभ काम में जैसे शादी, पूजा वगैरह में भाग नहीं ले सकती थी। 'पाट' होने पर भी उसके गले में चाँदी की या जिसके पास पैसा हो वह सोने की सवत की आकृति का पेंडेंट पहनाया जाता था ताकि वह दूसरी औरत है, ऐसा सब जानें।"[65] पुरुषवर्चस्ववादी समाज में विधुर पुरुष को किसी

कुमारी से पूरी विधि के साथ शादी कर सकता था। परंतु विधवाओं का पुनर्विवह अब भी समाज की नज़र में अवांछनीय है।

परिवार और समाज द्वारा उपेक्षित विधवाओं को जीविका चलाने के लिए कभी-कभी मंदिरों के सामने बैठकर इाथ पसारना पड़ता था। कुसुम अंसल जी ने अपनी आत्मकथा में बंगाल की गलियों में सिर मुंडन करके मैली धोती पहनकर भीख्र माँगनेवाली या धर्मस्थलों पर वेश्या का धंधा चलाने में मज़बूर होनेवाली विधवाओं के प्रति सहानुभूति प्रकट की है। लेख्रिका ने विधवाओं की ऐसी दीन दशा के जिम्मेदार होनेवाली पितृसत्तात्मक व्यवस्था के प्रति अपना प्रतिरोध यों प्रकट किया है- "पुरुष जब चाहे पुराने वस्त्रों की तरह स्त्री और बिस्तरे बदल सकता है पर ये विधवायें, माथे पर 'त्याग' की राख्र मले ख्रड़ी रह जाती है।"[66]

मैत्रेयी पुष्पा की माँ कस्तूरी ने शादी के पहले ही विवाह करने से मना किया था, कयोंकि वह सती होने से डरती थी। उसे पता चला था कि बूढ़े-बीमार पति जल्दी ही मर जायेंगे तो उसे सती बनकर मरना पडेगा। मरने से वह डरती थी, और सती बनना नहीं चाहती। इसलिए शादी से मना किया था, लेकिन शादी के बाद पति के मरने से 'विधवा' होकर जीना उससे भी ज्यादा कष्टमय था। हमारे समाज में विधवाओं के प्रति जो दोहरी मानसिकता है, उससे छुटकारा पाने के लिए कस्तूरी शिक्षा के द्वारा आगे बढ़ी। समाज द्वारा विधवाओं के ऊपर थोपी गई सारी वर्जनाओं को तोड-फोडकर वह शिक्षा प्राप्त करके नौकरी कमाती है तथा स्वतंत्र और आत्मनिर्भर बन जाती है। उसकी ज़िन्दगी में ख्रुशियाँ नहीं थी, तीज-त्योहार नहीं थे, हँसी-मजाक नहीं थी, राग-रंग या प्रेम नहीं था। अतः विधवा जीवन में जीवन जैसा कुछ नहीं होता। समाज द्वारा स्त्रियों पर थोपा गया यह अनाचार स्त्री को जीने नहीं

देता। मैत्रेयी की माँ कस्तूरी ने विधवाओं के प्रति समाज की मानसिकता को यों प्रस्तुत किया है "संसार की गति तो अपने विधान से चल रही है। मैं विधान को बदलने की कोशिश करती हूँ तो लोग उसे मेरे विधवापन का हवाला देकर ख़ारिज कर डालेंगे।"[67] अतः कस्तूरी किसी न किसी प्रकार समाज के इन अमानवीय व्यवहारों से लड़ने की कोशिश करती है तो समाज उसे वैधव्य के नाम से कुचल डालने का प्रयास करता था।

3.2.2 धार्मिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों में फँसी स्त्री

लीलाधर जगूड़ी ने 'धर्मार्थ' नामक कविता में धर्म संबन्धी विचार को यों प्रस्तुत किया है-

> "धर्म माने स्वभाव तो इसे बिगड़ने नहीं देना चाहिए।
> धर्म माने आचरण तो इसे सुधारते रहना चाहिए।
> धर्म माने अच्छाई तो इसे बुराई से बचाना चाहिए।
> धर्म माने निजी विश्वास तो इसे अपने में ही रखना चाहिए।"[68]

स्त्री के सन्दर्भ में धर्म पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था का शोषण तंत्र है। क्योंकि पितृसत्ता जानती है कि धर्म के प्रति असीम आस्था रखनेवाली स्त्री को 'धर्म' के नाम पर नियंत्रण में रखना आसान कार्य होता है। स्त्री को स्त्री बनाने में या पुरुषोचित मूल्य व्यवस्था को सिखाने में धर्म की अहम भूमिका है। सुशीला टाकभौरे जी कहती है कि उनके गाँव में त्योहारों के समय धार्मिक फिल्मों का प्रदर्शन होता था, वे भी इससे प्रभावित थी अतः उन्हें कमज़ोर बनाने में इन फिल्मों का भी योगदान रहा है। वे लिखती है "ऐसी फिल्में धर्म के प्रति आस्था बढ़ाती है और

महिलाओं को कष्ट, त्याग और बलिदान करना सिखाती थी। इन फिल्मों का प्रभाव मेरे मन पर लंबे समय तक रहा। इन संस्कारों ने आदर्श के नाम पर मुझे कमज़ोर बनाया और दुःख सहने के लिए बाध्य किया था।"[69] सुशीला टाकभौरे जी की शादी अपने से अठारह साल बडे आदमी से हुई थी। यह जानते हुए भी उन्होंने विरोध नहीं किया था। क्योंकि धार्मिक कथाओं और धार्मिक फिल्मों से उन्होंने यही सीखा था कि पति बूढ़ा, बीमार, कोठी, कलंकी, वेश्यागामी, कैसा भी हो पूजनीय होते हैं वैवाहिक बन्धन को ईश्वर द्वारा बनाये गये बन्धन माने जाते थे। सुशीला जी ने लिखता है "हिन्दू धर्म ग्रन्थ मनुस्मृति में निर्देश है, लड़की की उम्र से तीन गुना बड़ी उम्र के वर से विवाह किया जा सकता है। यदि लड़की दस साल की हो तो तीस साल के वर से विवाह हो सकता है। हिन्दू धर्म इसे अनमेल विवाह नहीं कहता, बल्कि इसे प्रोत्साहन देता है। लोग धर्म के नाम पर चुप रह जाते हैं।"[70] धर्म एक ऐसा उपकरण है जिसके तहत स्त्रियों को बहुत जल्दी ही कमज़ोर बनाया जा सकता है।

लेखिका ने अपने समाज में मौजूद अंधविश्वास, रीति-रिवाज़ आदि की ओर भी नज़र डाली है, विशेषकर दलित स्त्रियाँ अपनी अशिक्षा और अज्ञानता के कारण धार्मिक कुरीतियों में बहुत जल्दी ही फँस जाती है। अंधविश्वास में कैदी अपनी माँ की हालत को लेखिका ने यों प्रस्तुत किया है "सोमवार के दिन की सोमवती अमावस्या को बहुत महत्व दिया जाता था। माँ उस दिन बस से होशंगाबाद जाकर नर्मदा नदी के घाट पर नहाती थी। परिवार की खुशहाली और सुख-संपन्नता के लिए माँ गरमी, बरसात, ठंड हर मौसम में नर्मदा नहाने जाती थी। यह हिन्दु धर्म का अंधविश्वास था।"[71] परिवार की सुख संपत्ति और बेटों के सुख स्वास्थ्य के लिए ईश्वर

से मनौती माँगना आज के शिक्षित, आधुनिक स्त्रियों की भी आदत बन गई है। परिवार में संपत्ति की रक्षा और 'पिंडदान की कर्म' से समाज में लड़के के जन्म को अनिवार्य स्थापित किया। मैत्रेयी पुष्पा जी ने बेटियों को जन्म देने के कारण परिवार और समाज उसे 'कुलक्षिनी' कहने लगी। बेटे को जन्म देने के लिए भगवान से मन्नौती माँगना और व्रत रखना, पूजा-पाठ करना गाँव की स्त्रियों की दिनचर्य बन गयी थी। मैत्रेयी की सास और पडोसवाली स्त्रियों ने उनसे पूजा-पाठ और व्रत रखने में मज़बूर किया। वे लिखती है "मैं ने पूरी निष्ठा से सारे दिन का व्रत निभाया। शिवजी का ध्यान किया, जिनके लिए पार्वती ने एक पत्ते के आहार पर तप किया था और कार्तिकेय सा पुत्र पाया। मैं जैसे-तैसे सूखी जबान और तड़कते गले से भजन गाती

जै गजेश जै गणेश जै गणेश देवा।
माता तेरी पार्वती पिता महा देवा।

मैं ने अपने पूजा-स्थान की दीवार पर बाल-कृष्ण, बाल-गणेश और बाल-रामचन्द्र की तस्वीरें लगा लीं।"[72] मैत्रेयी जी ने पूजा-पाठ और व्रत रखा बल्कि माँग बेटे को जन्म देने के लिए नहीं था, अपने दोनों बेटियों को डॉक्टर बनाने की थी।

महिला आत्मकथाओं में अधिकांश लेखिकाएँ हिन्दु धर्म की अनैतिकताओं का पर्दाफाश करते हुए हिन्दू धर्म में मौजूद अन्धविश्वास, अनाचार और जातिभेद आदि पर विद्रोह प्रकट किया है। हिन्दु धर्म में लड़कियों को मासिक धर्म के दिनों में अछूत की तरह अपने कपड़ों और बर्तनों सहित अलग होकर रहना पड़ता है। मासिक धर्म स्त्री शरीर की एक नैसर्गिक प्रक्रिया है। उस अवसर पर उन्हें 'अछूत' मानने की प्रथा

सदियों से चली आ रही है और आज भी चल रही है। प्रभा खेतान को छोटी उम्र में ही मासिक धर्म शुरू हुआ था। घर में बाबू जी के वार्षिकी वाले दिन प्रभा को सबसे अलग पीछे बरामदे में पूरे दिन बंद रख दिया, बाथरूम जाने के लिए भी मना कर दिया। प्रभाजी ने अपनी असहाय अवस्था को यों प्रस्तुत किया है- ‘‘पाँच बजे शाम को दाई माँ ने बरामदे का दरवाजा खोला। अम्मा ने धीरे से हिदायत दी, ‘‘सब पूर-पल्ला धोकर फेंकना, किसी की नज़र नहीं पड़े।’’ गीता, किशन, पुष्पा और छोटे भय्या मोनोपली खेल रहे थे। किशन ने मुझे-देखते ही चिढ़ाया, ‘‘हे... हे... अछूत कन्या... अछूत कन्या!’’ शर्म से सारा शरीर झुक गया।’’[73] स्त्रियों को मानसिक और शारीरिक रुप से कमज़ोर बनाने में ऐसी धार्मिक रुढ़ियों और अन्धविश्वासों की भूमिका उल्लेखनीय है।

स्त्री आत्मकथाकारों ने धर्म के प्रति अपने दृष्टिकोण को भी बिहिचक प्रस्तुत किया है। हिन्दू धर्म की स्त्री विरोधी मान्यताओं से स्त्रियों के मन में उसके प्रति नकारात्मक भावना को पैदा हुई। कुसुम जी ने एक ओर मुस्लिम धर्म की उदारता पर विचार किया है तो दूसरी ओर हिन्दू धर्म में फैली कट्टर जातीयता की ओर भी संकेत किया है- ‘‘हिन्दू धर्म में इंसानियत टुकड़ों में विभाजित है, ये अछूत है, ये भंगी है, खाना-पीना तो दूर उनकी परछाई तक को अशुभ माना जाता है। हमारे मंदिरों में भी तो कितनी बड़ी साझेदारी है, भगवान और एक वर्ग विशेष के बीच अछूत और निम्नवर्ग को पूजा-अर्चना का अधिकार नहीं दिया जाता, तिस पर पूजा पद्धति भी तो ऐसी ही है, एकाकी मैं और मेरे भगवान के मध्य तारतम्य स्थापित करती हुई।’’[74] हिन्दू धर्म में मौजूद इस अमानवीय विभाजन और छुआ- छूत की भावना पर लेखिका अपना रोष प्रकट करती है। सुशीला टाकभौरेजी के मन में हिन्दू धर्म के

प्रति विद्रोहात्मक दृष्टिकोण है क्योंकि हिन्दू धर्म की मनुवादी व्यवस्था ने ही उन्हें नीचे धकेल दिया है। अपनी इस दयनीय स्थिति का दोषारोप हिन्दू धर्म पर लगाते हुए लेखिका कहती है- ''हिन्दू कभी किसी दूसरे धर्म की बातों को नहीं मानते। हम मानते थे मतलब हम हिन्दू नहीं थे। हमें अपना धर्म पता ही नहीं था। भय और भ्रम के साथ हमें हिन्दू बना दिया गया था। हम हिन्दू धर्म मानते हुए अछूत होने के कष्टों का और अपमान का जीवन जी रहे थे।''[75]

3.2.3 दलित स्त्री और समाज

दलित स्त्रियाँ समाज में दोहरे अभिशाप को झेलने के लिए विवश है। एक तो दलित होना ही वर्ण व्यवस्था की गहरी और अमानवीय व्यवस्था की चंगुल में फँसना है तो उसके बाद दलित स्त्री होना और भी भयानक है। दलित स्त्रियाँ घर-परिवार और समाज में हर कहीं गुलामी का जीवन जीने के लिए विवश होती हैं। सुशीला टाकभौरे जी लिखती है ''बचपन से युवावस्था तक मेरे जीवन के दिन अनेक प्रकार के शिकंजों में जकड़े हुए थे। लेकिन कठिन श्रम-कष्ट अभाव और जातिभेद की पीड़ा से जकड़े जीवन का बचपन कुछ और याद नहीं कर पाता।''[76] दलित होने के नाते समाज से तिरस्कृत भावना का शिकार होना पड़ता है।

कौसल्या बैसंत्री जी ने भी जातिभेद के घिनौने रूप को अपनी आत्मकथा में उभारा है। जातिगत हीन भावना के कारण वे भी स्कूल के किसी कार्यक्रम में भाग नहीं लेती। कभी-कभी अन्य छात्राओं से अपनी जाति छिपाने की कोशिश भी करती थी। घर में सब बच्चे पढ़ने के कारण सब की स्कूल फीस देने में उनके पिता असमर्थ थे। इसलिए वे स्कूल में आकार हेड मिस्ट्रस से बिनती करते है, इसे लेखिका

ने बहुत ही- संवेदनशील होकर प्रस्तुत किया है "बाबा ने हेड मिस्ट्रेस के चरणों के पास अपना सिर झुकाया दूर से क्योंकि वे अछूत थे, स्पर्श नहीं कर सकते थे। बाबा का चेहरा कितना मायूस लग रहा था उस वक्त! मेरी आँखें भर आई थी। अब भी इस बात की याद आते ही बहुत व्यथित हो जाती हूँ। अपमान महसूस करती हूँ। जाति-पाँति बनानेवाले का मुँह नोचने का मन करता है। अपमान का बदला लेने का मन करता है।"[77]

समाज में मौजूद जातीय भेद-भाव, छुआ-छूत आदि के कारण दलितों का शिक्षा प्राप्त करना कठिन था। आर्थिक कठिनाई और जातिव्यवस्था के कारण शिक्षा को ज़ारी रखना उनके सामने चुनौतिपूर्ण कार्य बन गई थी। दलित अपनी स्थिति को सुधारने की दिशा में कदम बढ़ए जा रहे थे। सुशीला टाकभौरे जी और कौसल्या बैसंत्री जी ने विपरीत परिस्थितियों से लड़कर शिक्षा के ज़रिए आगे बढ़ी। स्कूलों में सवर्ण शिक्षकों द्वारा तिरस्कृत भावना की शिकार होती सुशीला जी प्राध्यापिका बनने के बाद भी जाति उसका पीछा नहीं छोड़ती। कॉलेज में अपनी सहयोगी अध्यापकों द्वारा कई बार जाति के नाम पर मानसिक आघात झेलना पड़ा। लेखिका एक दिन अपने कॉलेज की प्राध्यापिकाओं को भोजन के लिये बुलाया। कुल मिलाकर वहाँ तेरह प्राध्यापिकाएँ थी, लेकिन सिर्फ तीन ही आयी थी और उनमें एक ने भोजन नहीं किया। उच्च शिक्षा प्राप्त होने पर भी निम्नजाति के लोगों के प्रति सवर्णों की मानसिकता में कोई बदलाव नहीं आया है।

उच्चवर्ग की स्त्रियों की अपेक्षा दलित स्त्रियों को गरीबी और अभाव की पीड़ा से भी जूझना पडता है। गरीबी और अभाव में बच्चों की अकाल मृत्यू आम बात थी। सुशीला टाकभौरे जी का परिवार भी आर्थिक दृष्टि से बहुत कमजोर था।

उनको अच्छे भोजन नहीं मिलते। परिवार में सदस्य अधिक होने के कारण उन्हें भर-पेट खाना तक नसीब नहीं था। जैसे लेखिका के शब्दों में “जब हम भूख से रोते, माँ, नानी हमें काली चाय के साथ रोटी खिला देती थी। कभी प्यार से, कभी गुस्से से थपककर सुला देती थी, इसी तरह खाते, खेलते, रोते हम बड़े होते रहे।”[78] अतः परिवार में भोजन की व्यवस्था करना स्त्रियों का दायित्व है, कभी-कभी गरीबी से विविश स्त्रीयों को दई दिनों तक दूसरों को खिलाने के बाद स्वयं भूखा रहना पड़ता है। पुरातन काल से ही हमारे समाज ने दलित और स्त्री के प्रति जो नकारात्मक दृष्टिकोण रखा है, उसमें आज तक कोई बदलाव नहीं आया है। दलित स्त्री आत्मकथाओं में ‘स्व’ के चित्रण के साथ-साथ अस्पृश्य समाज, उसकी अभावग्रस्त ज़िन्दगी, अज्ञान,जाती के कारण हुए अपमानित जीवन, अत्याचार, पीड़ा आदि का चित्रण हुआ है। इसके अलावा पुरुष प्रधान समाज से पीड़ित दलित स्त्री के संघर्ष भरे जीवन को भी दर्शाया गया है। मनुष्य कितने भी साक्षर हो उसकी मानसिकता में जब तक बदलाव नहीं आता तब तक दलित जीवन में परिवर्तन मुमकिन नहीं है। समाज की प्रगति के लिए मानसिक बदलाव अनिवार्य है।

3.2.4 कामकाजी स्त्रियों की समस्यायें

आर्थिक स्वावलंबन और सुधार की कामना से स्त्रियाँ घर के बाहर नौकरी पर जाती तो उन्हें कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। नौकरी के साथ-साथ उसे घरेलू दायित्वों को भी पूर्ण करना पडता है। घर के सारे काम और बच्चों के देखभाल भी स्त्री को अकेली करना होता है। ऐसे सन्दर्भ में पारिवारिक जिम्मेदारियाँ उनके लिए बोझ बन जाती है।

नौकरी पर जानेवाली स्त्रियों के बच्चों की सुरक्षा भी खतरें में पड़ जाती है। मैत्रेयी पुष्पा के पिता की मृत्यू के बाद परिवार का पूर्ण उत्तरदायित्व उसकी माँ कस्तूरी के कंधों पर आ गई। आर्थिक कठिनाई को सुधारने के लिए कस्तूरी शिक्षा के माध्यम से नौकरी हासिल करती है। जब ग्रामसेविका के पद पर उनकी पोस्टिंग हुई तो बेटी मैत्रेयी को अपने संयोजिका के घर में रहने की सुविधा की। वहाँ संयोजिका के बेटे ने मैत्रेयी को शारीरिक रूप से इस्तेमाल करने का प्रयास किया। माँ के प्यार से वंचित मैत्रेयी के मन में माँ के प्रति विद्रोही भावना भरने लगी। बच्चों की सुरक्षा का सवाल आज भी नौकरीपेशा स्त्रियों के सामने चुनौतीपूर्ण है।

नौकरी पर जानेवाली स्त्रियाँ बच्चों के देखभाल के लिए कभी-कभी उन्हें अपने रिश्तेदारों के घर में भेज देती है तो कभी डेकेयर सेन्टरों में। मन्नू भंडारी ने अपनी बेटी टिंकू को उनकी बडी बहन के पास कलकत्ता में भेज दिया था। टिंकू चार साल तक सुशीला के पास रहने के कारण वह सुशीला को ही अपनी असली माँ समझती थी। बेटी की इस गलत धारणा ने मन्नू जी के मन में गहरा आघात पहूँचायी। अतः उन्हें बेटी के सामने अपने मातृत्व को स्थापित करना पड़ा। वे लिखती है "दोनों बाँहों में पकड़कर मैं ने उसे अपनी ओर खींचते हुए कहा-"पागल हो गई है.. अरे मैं ने जन्म दिया है तुझे.. मैं हूँ तेरी असली माँ। हाँ यह सही है कि चार साल तक सुशीला ने तुझे बहुत रखा है...। बहुत पाला है लेकिन फिर भी ममी तो मैं ही हूँ तेरी।"[79] बेटी के सामने अपने मातृत्व की स्थापना करनेवाली माँ की विवशता को लेखिका ने पाठकों के सामने रखा है।

नौकरीपेशा स्त्रियों को कभी-कभी नौकरी के क्षेत्र में शारीरिक शोषण का भी शिकार होना पड़ता है। रमणिका गुप्ता एक इन्शूरन्स कंपनी में नौकरी पर जाती

थी। वहाँ के अधिकारी संजय बड़े-बड़े अमीर लोगों से बड़ी रशि की इंश्योरंस कराने के लिए जाते समय रमणिका को भी साथ ले जाता था और उन अमीर आदमीयों से इंश्योरंश करवाने के लिए उनके साथ यौन संबन्ध के लिए रमणिका को मज़बूर करता था। संजय के शब्दों से यह स्पष्ट है "देखो ये बहुत अच्छे लोग हैं, तुम मान जाओ तो मुझे बहुत बड़ा केस उनसे मिल जाएगा। वह तुरन्त ही पूरी किस्त नकद चुका देगा।"[80] निरन्तर होनेवाली यौन शोषण से उत्पीडित लेखिका अंत में नौकरी छोडने को मज़बूर हो गयी।

3.2.5 स्त्रियों के प्रति समाज का नजरिया

भारतीय समाज में स्त्रियों के प्रति समाज का नज़रिया सर्वदा हीन तथा निचली समझे जाते था। समाज ने स्त्रियों को अगे बढ़ने का अवसर ही नहीं दिया। अगर कोई स्त्री अपने ऊपर थोपी गयी रूढ़ मान्यताओं को तोड़कर आगे बढ़ने की कोशिश करेगी तो समाज उसे किसी न किसी रुप में दबाने का प्रयास करता है।

मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुण्डल बसै' में कस्तूरी अपने पति की मृत्यू के बाद 'वैधव्य' की घेराबंदी से मुक्त होने की अदम्य इच्छा से शिक्षा की ओर अग्रसर होने लगी तो समाज उस पर चरित्रहीनता का आरोप लगाकर उसे मानसिक और शारीरिक रूप से कमज़ोर बनाने का प्रयास ज़ारी रखते हैं। विधवाओं को घर के बाहर जाने में रोक लगाया जाती थी। कस्तूरी ने समाज की ऐसी मान्यताओं का खण्डन करने हुए शिक्षा अर्जित करने के लिए बाहर निकली तो गाँव के लोग कहने लगे कि "यह रांड क्या हुई, सांड हो गई। न छोरी पर ममता, न बूढ़े ससूर का रहम। 'पढ़ाई-पढ़ाई' का भजन करती हुई दोनों को रौंद रही है।"[81] बेटियों को

जन्म देनेवाली स्त्रियाँ हमेशा समाज के सामने अपराधी या कुलनाशिनी बन जाती है। अगर एक स्त्री बेटे की जन्म नहीं दे सकती तो उसे विवाह विच्छेद कर पुरुष लोग दूसरी स्त्री से विवाह करने को तैयार हो जाते हैं। मैत्रेयी द्वारा बेटे को जन्म न देने के कारण समाज उसे कुलनाशिनी कहने लगते हैं, अपने ही गाँव के लोग पंचायत द्वारा उसके पति की दूसरी शादी कराने के फैसले पर ज़ोर देने लगे। मैत्रेयी जी कह रही थी कि वैज्ञानिक तौर पर अपने गाँव और वहाँ के लोग विकसित तो हुए हैं, जैसे गाँव में खेती के लिए आधुनिक मशीनों और उपकरणों का इस्तेमाल कर रहे हैं, लेकिन अपनी संस्कृति में अडिग रहनेवाली नाइंसाफी परंपराओं और मान्यताओं से वे अब भी मुक्त नहीं। मैत्रेय जी अपने गाँववालों की ऐसी रूढ़ मान्यता पर विरोध प्रकट करते हुए कहती है "किसानों ने खाद बीज की वैज्ञानिक समझ पैदा की है अपने लिए, आधुनिक उपकरणों-ट्राक्टर, थ्रैसर, डिबलर, फव्वारे की सिंचाई को कुशलता से अपनाया है और फसलों की चार-चार किश्तें एक साल में काटी हैं, लेकिन इसी के साथ अपनी महान परंपराओं को भूलने की भूल नहीं की, यही तो भारतीयता है।"[82] लेखिका ने वैज्ञानिक तौर पर आधुनिकता को अपनानेवाले गाँववालों की संकुचित मानसिकता पर व्यंग्यात्मक ढंग से विरोध प्रकट किया है।

अकेली रहती स्त्रियों के जीवन में जीवन जैसा कुछ नहीं होता। समाज स्त्री को अकेले जीने की इजाजत नहीं देता। कभी-कभी पारिवारिक व्यवस्था से ऊब या पति की पुरुषवर्चस्ववादी मानसिकता से तंग आकर स्त्रियाँ अकेले रहने का निर्णय लेती है, लेकिन हमारे समाज की नज़र में ऐसे अकेली रहती स्त्री वेश्या या बदचलन ही है। कृष्णा अग्निहोत्री जी ने पति से अलग होकर अपनी बेटी के साथ जीने लगी तो कई पुरुषों ने उनके साथ शारीरिक संबन्ध स्थापित करने की कोशिश की, कभी-

कभी समाज के कई तरह के सवालों से गुजरना कृष्णजी को पीड़ादायक होने लगा। वे लिखती है "पागल स्त्री को लोग बेवजह पत्थर मारते हैं। इसी तरह निःशक्त व अकेली-असहाय स्त्री को लोग सताते हैं।"[83]

विवाह और पारिवारिक संस्था से बिल्कुल अलगकर, अपने प्रेमी के साथ लिव इन रिलेशनशिप में जीनेवाली प्रभा खेतान की ज़िन्दगी भी समाज के सामने बहुत बड़ी सवाल बन जाती है। प्रभाजी अपने लिए एक फ्लैट खरीदकर वहाँ अकेले रहना शुरु किया तो उन्हें समाज के कई सवालों का सामना करना पड़ा। उनके प्रेमी डॉ.सर्राफ का दोस्त अकेले रहने का निर्णय लेनेवाली प्रभा को यों समझाता है "सिन्दूर की पहचान तो रहती है। वे मिसेज कहलाती है, मिस नहीं। आप समझतीं क्यों नहीं कि आप एक अकेली औरत है और अकेले फ्लैट में लोग आपकी शक की निगाहों से देखेंगे। डॉक्टर साहब तो आपके पास रात में रहेंगे नहीं। वे तो अपने फ्लैट में रहेंगे।"[84] अतः अकेले रहनेवाली स्त्री को समाज स्त्री नहीं मानती। ऐसे सन्दर्भ में स्त्री का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। कृष्णा अग्निहोत्री जी ने अकेले रहनेवाली स्त्रियों के अस्तित्व के प्रति अपना दृष्टिकोण यों प्रस्तुत किया है "अज भी स्वतंत्र अकेले जीने वाली नारी की अस्मिता की प्रशंसा करना अतिशयोक्ति ही है। पहले तो यहाँ की संस्थाएँ ऐसी नहीं जो अकेली रहनेवाली स्त्री के दैनंदिन कार्यों में सहयोग करें। उसे कानूनी एवं सामाजिक परेशानियों से बचाएँ। नारी अस्तित्व वर्तमान में भी उलझा है एवं शोषण का शिकार ही है।"[85]

स्त्री चाहे शिक्षित आत्मनिर्भर हो या अनपढ़ पुरुष मेधा समाज उसे एक गुलाम के रुप में देखना पसन्द करता है। मन्नू जी ने अपनी आत्मकथा में ऐसे एक

सन्दर्भ को प्रस्तुत किया है। बासुदा ने शरतचन्द्र की कहानी 'स्वामी' को फिल्म बनाने के लिए मन्नू जी के द्वारा उसका पुनर्लेखन कराया। मन्नू जी द्वारा दी गई कहानी के अन्त में नायिका को नायक के बाँहों में समा हो जाने का प्रसंग है, लेकिन बासुदा ने उस प्रसंग में थोड़ा परिवर्तन करके नायिका को नायक के चरणों में लेटा दिया। जब इसके बारे में मन्नू जी ने बासूदा से पूछा तो उन्होंने कहा कि "अरे स्त्री को पति के चरणों में ही लेटना चाहिए.. तभी अच्छी लगती है वह।"[86]

घर से बाहर सामाजिक कार्यक्रमों या सामाजिक सुधार में उनमुख होती स्त्रियों को शुरू से ही समाज द्वारा अनुशासित रखने का साजिश रचा जाता हैं। पिता के आर्यसमाजी समाज सुधारक रूप से प्रभावित होकर शिक्षा की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए मन्नू जी अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाने लगी, आन्दोलन करने लगी, जैन साधुओं से धार्मिक आडंबरों पर बहस करने लगी। कॉलेज में लड़कों के साथ हड़ताल करवाती, और सड़कों पर भाषण देती मन्नू को देखकर उनके पिताजी के एक मित्र आकार उनसे शिकायत करता है "अरे उस मन्नू को तो मत मारी गई है भंडारी जी, पर उसको क्या हुआ? ठीक है, आपने लड़कियों को आज़ादी दी, पर देखते आप जाने कैसे-कैसे उल्टे-सीधे लड़कों के साथ हडतालों करवाती, हुड़ दंग मचाती फिर रही है वह। हमारे आपके घरों की लड़कियों को शोभा देता है यह सब? कोई मान-मर्यादा, इज्जत-आबरू का ख्याल भी रह गया है आपको या नहीं?"[87] हमारे समाज का दृष्टिकोण यही है। घर-परिवार की इज़्ज़त को लड़की की ज़िन्दगी से जोड़कर देखने की आदत पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था का षड्यंत्र है जिससे स्त्री हमेशा चुप्पी में ही घर की चारदीवारी के अन्दर सिमटकर जीने में मजबूर हो जाती

है। समाज जितना भी विकसित और परिवर्तित हो फिर भी स्त्रियों के प्रति उसकी मानसिकता अब भी संकुचित और त्रासदभरी है।

3.2.6 विवाह संस्था की अमानवीय रुढ़ियों को तोड़ती स्त्री

'विवाह संस्था' पितृसत्तात्मक सामाजिक मूल्यों को बढ़ावा देने में अहम भूमिका अदा कर रही है। विवाह संस्था में फैली रुढ़ियों और अनाचारों ने स्त्री जीवन को अंधेरे में छोड दिया। स्त्रियों पर होनेवाले अत्याचार जब चरमोन्नति पर आ गए तो उनके द्वारा प्रतिरोध की रास्ता अपनाने लगे। स्त्री समझने लगी कि प्रतिरोध के ज़रिए ही स्त्री मुक्ति या सामाजिक परिवर्तन संभव हो सकेगा।

स्त्री आत्मकथाएँ अपने आप में स्त्रियों पर होनेवाले अत्याचारों का प्रतिरोध है। अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से लेखिकाओं ने समाज में व्याप्त पितृसत्तात्मक मान्यताओं, रुढ़ियों और अनाचारों के प्रति विद्रोह प्रकट किया है। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा 'कस्तूरी कुंडल बसै' में उनकी माँ कस्तूरी विवाह को स्त्री के पैरों की बेडियाँ मानती है। सोलह वर्षीया कस्तूरी को परिवारवाले 'अनमेल विवाह' के द्वारा विवाह की मेडी में बेचते हैं। विवाह के पहले ही कस्तूरी ने शादी के लिए मना किया था। क्योंकि वह सती बनना नहीं चाहती थी। विवाह के बाद बीमार और बूढ़े पति की मृत्यू हुई तो कस्तूरी परिवारवालों से सवाल उठाती है "मैं ने ब्याह नहीं करना चाहा था, किसी ने सुनी मेरी बात? मैं भाई के ब्याह के लिए बदले में किसी बूढ़े के साथ नहीं जाना चाहती थी, बस चुपके से बेच दिया मुझे। आज विधवा हो गई, मेरे साथ कौन है? चिन्ता है किसी को?"[88] समाज द्वारा दी ई वैधव्य की त्रासद भरी ज़िन्दगी उन्हें एक विद्रोही बना दिया। वैधव्य से मुक्ति पाने के लिए वह शिक्षा के

ज़रिए आगे बढ़ी। अपनी बेटी मैत्रेयी की शादी उनके ही गाँव में पहली विद्रोहात्मक शादी थी जो दहेज मुक्त थी। बिना दहेज की शादी का आयोजन गाँववालों के लिए आश्चर्य की बात बन गई थी।

'प्रेम विवाह' पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था के प्रति स्त्री की पहली लड़ाई है। समाज की एक स्वतंत्र जीवंत इकाई है स्त्री। स्वतंत्रता की यही चेतना ने स्त्री को अपने जीवन में प्रतिरोध करने ताकत दी। सामान्यत: शादि के मामले में स्त्रियों की इच्छा-अनिच्छा का कोई ध्यान नहीं देता। माँ-बाप और परिवार के बुजुर्ग लोगों के इच्छानुसार लड़कियों की शादी पक्का होती है। पुरुष मेधा समाज के ऐसे षड्यन्त्र के प्रति स्त्री का विद्रोह है 'प्रेमविवाह'। प्रेमविवाह से स्त्री अपने जीवन साथी को खुद चुन लेने का साहस दिखाती है। जिसके मुताबिक स्त्री स्वतंत्रता को महसूस करती है। स्त्री आत्मकथाकारों में रमणिका गुप्ता, और मन्नू भंडारी ने प्रेमविवाह के ज़रिए परंपरागत वैवाहिक मान्यताओं को तोड़ने का प्रयास किया। मन्नू भंडारी अपने पिता के सख़्त विरोध के बावजूद भी राजेन्द्र के साथ प्रेमविवाह करने का साहस दिखाती है। इसी प्रकार रमणिका गुप्ता जी ने भी परिवारवालों की इच्छा के विरुद्ध प्रकाश के साथ प्रेमविवाह किया, जो उनकी नज़र में वैवाहिक संस्था में फैली सारी रुढ़ियों और अनाचारों के प्रति विद्रोहात्मक कदम थी। शादी के लिए सबको उन्होंने स्वयं निमंत्रण भेजा, जो इस प्रकार था "मेरी शादी 27 नवम्बर, 1948 को है। आप आएँगे तो मुझे खुशी होगी। मैंने स्वयं चुना है प्रकाश को। बारात के बिना, दान-दहेज रहित इस अंतर्जातीय विवाह में आप भाग लें और रुढ़ियों को तोड़ने में मेरी मदद करें।"[89]

स्त्री आत्मकथाकारों ने स्त्री-पुरुष के बीच यौन-संबन्धों में उपस्थित पुरुषसत्तात्मक मान्यताओं को तोडने का प्रयास किया है। सामान्यत : स्त्री-पुरुष यौन व्यवहार में पुरुष की सक्रिय भूमिका और स्त्री की निष्क्रियता पर ज़ोर दिया है। मैत्रेयी पुष्पा और रमणिका गुप्ता जी ने ऐसी गलत धारणाओं का उल्लंघन खुलेआम प्रस्तुत किया है। रमणिका गुप्ता जी के शब्दों में "मैं उठ बैठी। पता नहीं मुझे उस वक्त क्या हो गया था? सेक्स को पुरुष का अधिकार और पहल माननेवाली मैं उस दिन स्वयं पुरुष बन बैठी और मैंने स्वयं प्रयास करना शुरू कर दिया। फिर एकाएक अंग को निढाल हो गयी।"[90] सेक्स के मामलों में मौजूद पुरुषाधिकार को नकारते हुए, स्त्री का भी अधिकारक्षेत्र घोषित करने का प्रयास किया।

पितृसत्तात्मक समाज द्वारा स्त्रियों पर थोपी गई यौन शुचिता को भी रमणिकाजी नकारती है। लगातार यौन-शोषण की शिकार होनेवाली रमणिका गुप्ताजी के मन में यौन-उत्पीड़न के प्रति विरोध की भावना धीरे-धीरे खत्म होती है। शादी के बाद भी उन्होंने कई व्यक्तियों के साथ उन्मुक्त रूप से यौन-संबन्ध स्थापित किया। स्त्री आत्मकथाकारों ने सिर्फ पितृसत्तात्मक मूल्यों के प्रति भी नहीं बल्कि समाज में मौजूद जातीय भेद-भाव पर भी अपना प्रतिरोध व्यक्त किया है। सुशीला टाकभौरे, और कौसल्या बैसंत्री जैसी लेखिकाओं की आत्मकथाएँ इसका प्रामाणिक दस्तावेज है।

3.3 आर्थिक सन्दर्भ और स्त्री

आर्थिक स्वतंत्रता एक ऐसी स्वतंत्रता है जिससे व्यक्ति में आत्मविश्वास, आत्मसम्मान और आत्मनिर्भरता की भावना स्वतः ही आ जाती है। आर्थिक रूप से स्वतंत्र व्यक्ति ही अपना जीवन अपनी इच्छानुसार अपनी शर्तों पर जीने में सक्षम हो

जाता है। चाहे स्त्री हो या पुरुष, प्रत्येक व्यक्ति का आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर और स्वतंत्र होना ज़रूरी है, लेकिन हमारे समाज में पुरुष की अर्थिक स्वतंत्रता पूर्वनिर्धारित या सुनिश्चित है और स्त्री को उस पर आश्रित रहना पड़ता है। स्त्री आत्मकथाओं में आर्थिक अभाव से जूझनेवाली, आर्थिक रूप से पर निर्भरित और आर्थिक रूप से शोषण के शिकार होने वाले स्त्री जीवन का खुलासा है।

3.3.1 स्त्री का आर्थिक परावलंबन

प्राचीनकाल से ही भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत स्त्री और पुरुष के कर्तव्यों और जिम्मेदारियों को वर्गीकृत किया है जिसमें स्त्री का कर्मक्षेत्र 'गृहस्थी' और पुरुष का घर के बाहर जाकर पैसे कमाना होता है। ऐसे श्रम विभाजन में स्त्री को आर्थिक सुविधा के लिए पुरुषों पर आश्रय लेना पड़ता है तो पूरुष आर्थिक रूप से बिल्कुल स्वतंत्र।

भारत जैसे पुरुष प्रधान देश में आज भी महिलाओं को नौकरी करके पैसा कमाने में रोक हैं। घर-गृहस्थी के काम संभालनेवाली स्त्री को अपनी ज़रूरतों के लिए पुरुष के सामने भीख्र माँगनी पड़ती है। प्रभा खेतान ने अपनी आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' में पैसे के लिए पति और बेटे के सामने हाथ फैलानेवाली अपनी माँ और दाई माँ की विवशता को बहुत ही संवेदनशीलता से प्रस्तुत किया है "मुझे पता है दाई माँ रो रही है, आज दाई माँ को अपने बच्चों की याद आ रही है, दाई माँ ने अम्मा से पाँच सौ रुपए उधार माँगे थे, अम्मा ने कहा, रुपए उनके पास नहीं, वे बाबूजी से माँगकर देंगी।"[91]

“और यदि बाबूजी ने नहीं दिया? यदि मना कर दिया। तो दाई माँ कहाँ जाएँगी? किससे कहेंगी? मैं रोने लगी हूँ, हिचकियाँ बँध जाती हैं।”[92]

स्त्री का घरेलू काम पुरुष की दृष्टि में बेकार की बात है। घर-परिवार में स्त्री जितने भी हाड़-तोड़ मेहनत करने पर भी पति उसे कोई श्रम या मेहनत नहीं मानता। घरेलू खर्च के लिए पति से पैसा माँगना पड़ता है, पति चाहे जो कुछ देंगें तो उससे सारा कार्य संभालना होता है। ‘दोहरा अभिशाप’ में कौसल्या बैसंत्री ने अपने पति के व्यवहार को यों बताया है “यही व्यक्ति अपने घर में लड़ाई करता था अपनी पत्नी से। प्रशंसा तो दूर, उसे पेंशन के जो पैसे मिलते, उनमें से भी पत्नी को एक पैसा भी नहीं देता, उसके द्वारा घर का सारा काम करने पर भी। जो चालीस रुपये मेरा जेब-खर्च नियत किया था, उसे भी बंद कर दिया। तब मैं ने घर का दूध लाना, दोनों हाथों से बड़े-बड़े थैले लेकर जाना छोड़ दिया। घंटे-भर मुझे बारिश, ठंड, धूप में दूध-राशन की लाइन में खड़ा रहना पड़ता था।”[93] पति द्वारा पैसे नहीं देने पर कौसल्या जी को कभी-कभी अपनी माँ से और लड़के से आर्थिक सहायता मिलती रही थी।

‘पिंजरे की मैना’ में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा जी को पति कांतिचंद के पुरुषवर्चस्ववादी क्रूर मानसिकता का शिकार होना पड़ता है। एक बार पति-पत्नी दोनों हिन्दी साहित्य सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन में भाग लेने के लिए मद्रास गये थे तो वहाँ से कांतिचन्द्र को बंबई जाना था। चन्द्रकिरण जी ने वहाँ से लखनऊ जाने के लिए पति से दस रुपया माँगा तो उन्होंने नहीं दिया बल्कि गाली भी सुननी पड़ी। लखनऊ पहूँचने पर चन्द्रकिरण जी को पति का गाली भरा पत्र मिला जिसमें

लिखा था- “तुम्हें मैं ने मद्रास में दस रुपए नहीं दिये, तो तुम ज़रुर रास्ते भर मुझे कोसती गयी होगी। तुम्हारा कोसना सफल हुआ। बंबई स्टेशन पर मेरा बक्सा गेला गया और मुझे पन्द्रह रुपये जुर्माना देना पड़ा। पर कोसना तुम्हें ही नहीं आता, मुझे भी आता हैं मैं अभिशाप देता हूँ कि तुम जीवन भर भीख माँगोगी, तुम्हारे लड़के बेयरे बनकर, हॉटलों की जूठन खायेंगे और तुम्हारी लड़कियाँ कोठों पर बैठेगी।”[94] पति से दस रुपया पूछने पर ही उन्हें ऐसी गालियाँ सुननी पडी। चन्द्रकिरण जी जैसी महान लेखिका को ऐसी यातानामयी जिन्दगी से गुजरना पड़ा। पति की ऐसी हरकतें उनके आत्मसम्मान को चोट पहूँचनेवाली थी।

3.3.2 आर्थिक रूप से शोषण की शिकार बनी स्त्री

पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत स्त्री को घर से बाहर नौकरी करके पैसे कमाने की अनुमिति नहीं थी। लेकिन आजकल की बढ़ती महँगाई और परिवर्तित जीवन शैली में सिर्फ एक की कमाई पर, ज़िन्दगी गुजारना नामुककिन हो जाता है। इसलिए पुरुषवर्चस्व ने अपने रुढ़ मान्यताओं में थोड़ा परिवर्तन लाते हुए स्त्री को भी नौकरी पर भेजने का नया षड्यन्त्र रचा, जिससे आर्थिक सुधार संभव हो जाती है। ऐसी स्थिति में स्त्री पैसा कमाने की एक वस्तू मात्र बन जाती है।

सुशीला टाकभौरे जी के पति सुन्दरलाल टाकभौरे ने घर की आर्थिक स्थिति को सुधारने के उद्देश्य से पत्नी सुशीला को नागपुर के ‘मातृ सवा संघ’ नामक आस्पताल में लीनन कीपर की नौकरी पक्का करके पत्नी को नौकरी पर जाने के लिए मज़बूर किया। लेखिका पति के इच्छानुसार घर का सारा काम निभाते हुए आस्पताल में नौकरी पर जाती थी लेकिन नौकरी का वेतन पति खुद आकर लेते थे। वहाँ लेखिका सिर्फ धनोपार्जन की माध्यम थी। जी-तोड मेहनत करके कमानेवाली

स्त्री धन से वंचित भी रही। मन्नू भंडारी को पति द्वारा बतायी गयी समानातंर ज़िन्दगी में जीने के लिए आर्थिक सहायता ज़रुरी थी। घर-गृहस्थी के सारे उत्तरदायित्व से स्वतंत्र थे राजेन्द्रजी। इसलिए मन्नू भंडारी अर्थोपार्जन के लिए भाग-दौड कर रही थी। कभी-कभी लेखन से प्राप्त पैसे से और अध्यापन से प्राप्त वेतन से घर का खर्च चलाती थी। आर्थिक कठिनाईयों का सामना करने के लिए मन्नूजी एक ओर जी-तोड मेहनत कर रही थी तो दूसरी ओर पति राजेन्द्र द्वारा पारिवारिक खर्च के लिए दिए गये रुपयों से कुछ काटकर और कभी लेखन से प्राप्त पैसे से अपने प्रेमी के साथ घूमने-फिरने में मज़ा लेती थी। प्रभा खेतान भी आर्थिक स्वालंबन के उद्देश्य से और अलग पहचान के लिए व्यापारी दुनिया में प्रवेश करती है। चमड़े की निर्यात के ज़रिए व्यापारी दुनिया में अपनी पहचान बनाती प्रभा खेतान की आर्थिक स्थिति सुदृढ थी। व्यापार की सारी ज़िम्मेदारियाँ प्रभा खुद निभाती थी। पैसे का नियंत्रण डॉ. सर्राफ के हाथ में था। लेखिका कहती है “व्यापार मैं कर रही थी मगर पैसे का कंट्रोल डॉकटर साहब कर रहे थे। कहाँ कितना पैसा लगाना है, किसके पास कितना रुपया जाना है इसका निर्णय वही लेते थे।”[95] अर्थात पुरुष को आर्थिक सुधार के लिए स्त्री की सहायता तो चाहिए लेकिन उसकी कमाई पर पुरुष का ही नियंत्रण है, स्त्री मात्र एक उपकरण है।

3.3.3 आर्थिक कठिनाई से जूझती स्त्री

घर-परिवार में आर्थिक कठिनाई से सबसे ज्यादा पीडित होनेवाले स्त्रियाँ ही है। क्योंकि परिवार के खर्च के लिए पति द्वारा कुछ दिये जाते थे तो उससे सारे कार्य निभाना पड़ता था। उसमें कभी कुछ कमी आ जाये तो पति से गाली और मारपीट भी सहनी पड़ती थी। कभी-कभी घर की आर्थिक स्थिति को सुचारू बनाने

के लिए स्त्री बाहर नौकरी पर जाती है तो तब भी कष्ट स्त्री को ही सहना पड़ता है, जैसे उन्हें घर के सारे काम करने के साथ-साथ नौकरी भी करनी पड़ती है। स्त्री आत्मकथाओं में अधिकांश लेखिकाएँ नौकरीपेशा स्त्रियाँ है और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर भी है।

आर्थिक रूप से परतंत्र स्त्रियों को हमेशा पुरुष के नियंत्रण में रहना पड़ता है। मन्नू भंडारी आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर और परिवार को संभालनेवाली स्वतंत्र स्त्री है। शादी के बाद परिवार के सारे उत्तरदायित्व उनके कंधों पर आ गये। गृहस्थी चलाने के लिए एक नियमित आय होना ज़रूरी है। इसके लिए मन्नू जी भागदौड कर रही थी। यह उनके ही शब्दों में- "राजेन्द्र 'अक्षर' से निकालकर घर-खर्च के लिए मुझे थोड़ा बहुत देते तो थे पर दिल्ली में पाँच प्राणियों के परिवार को चलाने की सारी ज़िम्मेदारी तो मेरे ऊपर ही थी। मैं भी करती तो आखिर क्या करती... अन्ततः मुझे छुट्टियों क्लास पढाने का काम लेना पड़ा। दिल्ली विश्वविद्यालय में प्राइवेट पढ़ाई करनेवालों के लिए छुट्टियों के दिनों में कक्षा की व्यवस्था है। सो होता क्या कि कॉलेज में छुट्टि होती तो वहाँ पढ़ाने जाती। इसके अतिरिक्त टि.वी. के जितने भी प्रोग्राम मिलते करती।"[96]

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा जी भी घर का खर्च सुचारु रूप से चलाने के लिए विभिन्न जगहों पर विभिन्न काम करती थी। उन्होंने स्कूल में पढ़ाया, रेडियों में नौकरी की, अपने लेख और कहानियाँ प्रकाशित करवाई ताकि आर्थिक तंगी से बच सके। वे लिखती है "पैसों की कमी को पूरा करने का, मैं ने एक उपाय निकाला- लखनऊ से एक सरकारी पत्र 'श्रमजीवी' निकलता था; जिसके संपादक मेरी रचनाओं को बहुत मान देते थे। यद्यपि मैं अधिकतर उन्हें अपनी रेडियो पर प्रसारित

कहानियाँ ही देती थी। ज़रूरत पड़ने पर, मैं रचना लेकर खुद जाती, और कहती, 'मुझे इसका तुरंत पेमेंट भी चाहिए।'"[97]

दलित समाज की स्त्रियों को आर्थिक कठिनाई और गरीबी को सामना करना पड़ता है। सुशीला टाकभौरे जी ने पुरानी पीढ़ी की अपनी नानी द्वारा घर-गृहस्थी चलाने के लिए कितना कष्ट उठाया था, उसका वर्णन यों दिया है "नानी को गाँव का काम पैतृक दाय के रूप में मिला था। दिनभर कड़ी मेहनत करने के बाद रूखा, सूखा, जूठा पाना ही उसको प्राप्य था। नानी अपने काम से, अपनी स्थिति से और मज़बूरी से दुःखी थी। मगर न तो उसके पास जीवन-यापन का कोई दूसरा विकल्प था और न ही उसे कोई नई राह, नई दिशा की जानकारी देनेवाला मिला जो उससे इस नरक सफाई के काम को छोड़ने की बात कहता। नानी का पूरा जीवन बहुत कष्टपूर्ण था।"[98] दलित समाज की स्त्रियाँ, उच्च वर्ग की स्त्रियों की तुलना में स्वतंत्र थी, उन्हें नौकरी पर जाने की छूट तो मिलती थी लेकिन किसी व्यवस्थित या उच्चपद की नौकरी से वे वंचित थे, और उनके लिए जो काम निर्धारित थे वह भंगी या सफाई का काम था और वह भी बिना वेतन के कर्तव्य समझकर करन पड़ता था।

3.3.4 स्त्री का आर्थिक स्वावलंबन

आर्थिक सशक्तीकरण के बिना औरत का कोई वजूद नहीं होता। यह अत्यंत्र महत्वपूर्ण है कि हर महिला आर्थिक रूप से स्वतंत्र हो ताकि वह अपने ऊपर होनेवाले अन्याय का डटकर विरोधकर सके और उसे किसी रूप में खुद को असहाय महसूस न करना पडे। स्त्री आत्मकथाओं की अधिकांश स्त्रियाँ आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर और स्वतंत्र है। उनकी ज़िन्दगी ने उन्हें यही सिखाया कि स्त्री मुक्ति के लिए आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होना अनिवार्य है।

प्रभा खेतान की दृष्टि में दूसरों पर आश्रित रहने के कारण ही स्त्री शोषित रही है। वे कहती है "औरत की सारी स्वतंत्रता उसके पर्स में निहित है।"[99] अर्थात स्त्री की अपनी कमाई पर अपना अधिकार हो ताकि उसमें आत्मविश्वास बढ़ जायेगा और खुद निर्णय लेने की ताकत भी होती है। प्रभा जी अपने आप कहती है- "आर्थिक स्वतंत्रता मेरी पहली ज़रूरत है। कलकत्ता लौटकर अपने पैरों पर मुझे आत्मनिर्भर होना होगा।"[100] यही इच्छा उन्हें व्यापारी दुनिया से जोड़ती है और अपने आत्मविश्वास और इच्छाशक्ति के मुताबिक प्रेमी डॉ.सर्राफ के परिवार से 'अन्या' होती प्रभा व्यापार के क्षेत्र में अलग पहचान बनाते हुए 'अनन्या' बन गयी।

मन्नू भंडारी शादी के पहले ही नौकरी पर जाते हुए स्वयं कमानेवाली स्त्री थी। शादी के बाद लेखकीय अहंवादिता से पुष्ट पति राजेन्द्र ने घर की सारी जिम्मेदारियों को मन्नू के कंधों पर सौंप दिया तो उन्हें घर-खर्च के लिए बहुत कष्ट उठाना पडा। जो कुछ भी हो, पति द्वारा दी गई इस आर्थिक जिम्मेदारी ने मन्नू जी को आर्थिक स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता का पाठ पठाया। इससे उन्हें अपने ही पैरों पर खडे होने की ताकत प्राप्त हुई और जिन्दगी में अपनी ही शर्तों पर जीने की छूट भी मिली, उन्होंने अपने लिए एक घर बसाया, बेटी की शादी करायी और अंत में पति से अलगकर स्वतंत्र जीवन जीने का निर्णय भी खुद ली और आत्मविश्वास के साथ आगे बढ़ी। सुशीला टाकभौरे जी महिला जागृती के कार्यक्रम में भाग लेते समय या कभी भाषण देते समय महिलाओं की आर्थिक आत्मनिर्भरता की अनिवार्यता पर ज़ोर देती थी। एक बार भाषण देते समय उन्होंने एम-कोम करनेवाली लड़की से उनकी आगे की पढ़ाई या नौकरी के बारे में पूछा तो वह गर्व के साथ बोली "नही आण्टी, लड़कियों और औरतों को घर में ही रहना चाहिए, घर की जिम्मेदारी रहती है।"[101]

पितृसत्तात्मक समाज द्वारा सिखायी जानेवाली स्त्री विरुद्ध मान्यताओं में आज की शिक्षित स्त्रियाँ भी जकड़ी हुई है। ऐसी स्त्रियों को पुरुषसत्तात्मक समाज की कूटनीतियों के प्रति अवगत कराना स्त्री मुक्ति अवधारणा की पहली कदम है। सुशीला जी अपने भाषण में पूछती है "जब तक स्त्रियाँ आत्मनिर्भर नहीं बनेंगी, तब तक वे प्रगति के पथ पर कैसे आगे बढ़ सकेंगी?"[102] उन्होंने इसमें आर्थिक आत्मनिर्भरता के प्रति स्त्रियों को सचेत करने की अनिवार्यता पर जोर दिया है। रमणिका गुप्ता, कृष्णा अग्निहोत्री, सुशीला टाकभौरे, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, मैत्रेयी की माँ कस्तूरी आदि स्त्रियाँ अपने ही ज़िन्दगी के ज़रिए स्त्री समाज को आर्थिक स्वावलंबन के प्रति जागृति दी।

3.4 राजनीतिक सन्दर्भ और स्त्री

अरविन्द जैन ने 'उत्तराधिकार बनाम पुत्राधिकार' में बताया है "परिवार और पूँजी का संपूर्ण स्वामित्व और नियन्त्रण मर्दों के हाथों में होने के कारण समाज और राजसत्ता के सभी क्षेत्रों में स्त्रियों की स्थिति नहीं के बराबर है। निर्णय लेने के प्राय : सभी मुख्य केन्द्रों पर मर्दो का सर्वाधिकार सुरक्षित है, जिसकी वजह से स्त्री के हिस्से में सिर्फ एक अंधेरा कोना ही बचा रह गया है।"[103] अतः राजनीती जैसी सत्ताधिष्ठित क्षेत्र में पुरुष का अधिकार सर्वविदित है, वहाँ स्त्री को जगह ही नहीं भी जाती। स्त्रियों ने महसूस किया कि सत्ता में भागीदारी के बिना सामाजिक, आर्थिक, प्रशासनिक बदलव नहीं होंगे। राजनीतिक सत्ता के बिना राष्ट्रीय एवं अंतराष्ट्रीय स्तर पर स्त्रियों का अधिकारों की रक्षा संभव नहीं हो सके इसलिए राजनीति में स्त्री के आरक्षण की माँग की और स्त्री के आरक्षण संबन्धी प्रावधान भी लागू किया गया लेकिन आज भी राजनीति में प्रवेश करती स्त्रियों की संख्या बहुत ही विरले है।

राजनीति में प्रवेश करती स्त्रियों को वहाँ कई समस्याओं का सामना करना पडा। स्त्री आत्मकथाओं में राजनीती के प्रवेश करने से आतुर स्त्रियों की समस्याओं और राजनीति के प्रति स्त्रियों की नजरिए पर भी विचार किया है।

3.4.1 राजनीति में प्रवेश करती स्त्रियों की समस्यायें

राजनीति के क्षेत्र में आने की इच्छा रखनेवाली स्त्रियों को अधिक प्रतिरोध सहना पड़ता है। राजनीति में पहचान बनाने के लिए उन्हें अपने परिवार, बच्चों, नाते-रिश्तेदारों और समाज सभी को त्यगाना पडता है।

रमणिका गुप्ता जी ने समाज के कमज़ोर वर्गों की समस्याओं को सुधारने हेतु या उन्हें आर्थिक सुधार की व्यवस्था कराने हेतु बालवाड़ी, हायस्कूल, सिलाई प्रशिक्षण सेंटर और गाँव में कल्याण केन्द्र भी शुरु किए थे। चीन, पाकिस्तान की लड़ाई में उनकी योगदान से धनबाद में वे चर्चा के केन्द्र में आ गई थी। सन् 1968 में कच्छ आन्दोलन के बाद रमणिका जी ने राष्ट्रीय स्तर पर राजनीति में सीधे प्रवेश किया। राजनीति में उन्हें विभिन्न नेता-लोगों के साथ मिलना- जुलना पड़ता था, तो उस पर पति प्रकाश नाराज़ हो जाता था। धीरे-धीरे उनके रिश्तों में दरार होने लगा। रमणिका जी कहती है "मेरे घनिष्ठ रिश्ते मधुर रिश्तों में परिभाषित होने लगे और मेरे राजनीतिक मित्रों से मेरे रिश्तों को लेकर उठाए गए प्रश्न या शक-शुबहा पर मेरी तीव्र प्रतिक्रिया, प्रकाश को सह्य नहीं थी। न ही मैं प्रकाश की प्रश्नों भरी नजरों या तेवर को सहने को तैयार थी। इसलिए मैं प्रकाश से तलाक लेने की एक बड़ी ज़िद लेकर, एक बड़े फैसले से कटिबद्ध होकर लौटी थी- जो मेरे पारिवारिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन को दाँव पर चढ़ा सकता था।"[104]

राजनीति में भाग लेती स्त्रियों को कभी-कभी राजनीतिक नेताओं और मंत्रियों द्वारा यौन शौषण का शिकार बनना पड़ता है। राजनीतिक पुरुष राजनीति में नई आई महिलाओं को कभी-कभी ब्लैकमैलिंग करके सेक्स का शिकार बनाते है। राजनीति के पुरुषसत्तात्मक भोगवादी नजरिए का लेखिका यों पर्दाफाश करती है "वहाँ लोग स्त्री कार्यकर्ताओं को अपना कलेवा मानते थे जिसे भूख लगने पर खाने का एक स्वार्जित जन्मसिद्ध अधिकार उन्होंने प्राप्त कर रखा था। उनकी नजर में बिना किसी पुरुष नेता-वृक्ष का सहारा लिए महिला नेता-लता पनप और बढ़ नहीं सकती थी और मैं लता बनने को तैयार नहीं थी।"[105] राजनीति में पहचान बनाने के लिए स्त्री नेताओं को वरिष्ठ नेताओं के साथ बिस्तर बाँटने के लिए मज़बूर किया जाता है। राजनीति में अपनी सुरक्षा हेतु एक सुरक्षा कवच की ज़रूरत पड़ता है, जो वरिष्ठ नेताओं के अधिकार से ही प्राप्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में स्त्री को अपनी देह से समझौता करना पड़ता है। जब रमणिका गुप्ता जी ने धनबाद में महिलाओं के प्रशिक्षण केन्द्र के लिए ज़मीन की प्रावधान हेतु बिहार के मुख्यमंत्री के.बी सहाय के पास जाकर आवेदन पत्र दिया तो उन्होंने तत्क्षण अर्जी लेकर जमीन आवंटन की प्रक्रिया पूरा करने का आदेश दिया, साथ ही रमणिकाजी को आगोश में लेकर चूम लिया। सच में यह उनका शरीरिक शोषण था। लेकिन रमणिकाजी ने विरोध नहीं किया, क्योंकि वे जानती थी कि कभी-कभी ऐसे समझौते से ही राजनीति में जगह बना सकती है। वे लिखती है "अब मैं कहूँ कि यह मेरा शोषण था, तो शायद यह गलतबयानी होगी क्योंकि राजनैतिक सीढ़ियों पर चढ़नेवाले प्रायः हर व्यक्ति को , औरत हो या मर्द, सुरक्षा-कवच ज़रूरी होते हैं। मुझे मुख्यमंत्री का सुरक्षा कवच मिल रहा था। छद्‌म नैतिकता की बजाय, शायद ज्यादा भरोसामंद था यह आश्वासन।"[106]

आजकल कई स्त्री नेताएँ राजनीति के वरिष्ठ नेताओं के यौन-शोषण को खुलकर बताने का साहस दिखाती हैं।

3.4.2 राजनीति के प्रति स्त्रियों का दृष्टिकोण

राजनीति एक ऐसी लोकतांत्रिक व्यवस्था है, जिसका मूल मंत्र लोकहित है। जिसमें जनता द्वारा उसके लिए एक नेता का चुनाव करता है, जिसका लक्ष्य होता है अपनी जनता की भलाई। लेकिन आज चुनाव के द्वारा जो नेता सत्तासीन होता है उनका एकमात्र लक्ष्य है अपना हित करना या अपनी भलाई सोचना। आज राजनीतिक पर्टियाँ सत्ता मों आसीन होने के लिए आम जनता को कठपुतली बनाती हैं।

मन्नुभंडारी ने 'एक कहानी यह भी' में जनता को कठपुतली बनानेवाले राजनीतिक सत्ताधारियों की अवसरवादिता पर अपनी दृष्टि डाली है। सन् 1977 में कांग्रेस पार्टी का पराजय हुआ तो जनता पार्टी सत्ता में आ गई। कांग्रेस- विरोधी कुछ पार्टियों ने मिलकर ही जनता पार्टी बनाई थी। जनता के लिए यह उत्सव जैसा माहौल था। उन्हेंने सोचा कि उनके सारे संकट दूर हो जायेंगें, खासकर अपने दैनंदिन की समस्याओं में समाधान हो जायें। बेचारी जनता उन सत्ताधारियों पर पूर्ण विश्वास किया। सत्ता में आसीन होने के बाद उन लोगों का चेहरा बदल गया। वे स्वार्थ और सत्ता की लिप्सा में भाग-दौड कर रहे थे राजनीतिक सत्ताधारियों की ऐसी छल के प्रति लेखिका अपना दृष्टिकोण यों व्यक्त करती है "राजनीति की शतरंज पर आम-आदमी तो शुरु से ही मात्र एक मोहरा भर रहा है, जिसका नाम लेकर ये खास आदमी शह और मात का यह घिनौना खेल खेलते आ रहे हैं। बड़ी निर्ममता और बेहयाई से ये इसकी ज़िन्दगी को भी भुनाते है तो इसकी मौत को भी।"[107]

सुशीला टाकभौरे जी ने भी राजनीतिक क्षेत्र के खोखलेपन के बारे में दृष्टि डाली है। राजनीति के लोगों द्वारा दलितों का शोषण आम बात थी, दलितों को सुविधाओं का वादा देकर चुनाव में उन्हें मोहरा बनाते है। चुनाव के समय वोट माँगने के लिए दलितों के घर जाते हैं, और झूठे वादे या पैसे देकर उन्हें अपने वश में करते हैं। लेकिन चुनाव जीतने के बाद उन्हें अनदेखा करते हैं। जैसे लेखिका के शब्दों से व्यक्त होता है "वोट के लिए कुछ पार्टी के लोग हमारे घर आकर मतदाता के हिसाब से 10-10 रुपये के नोट भी देकर जाते थे। हमें अनेक सुविधाओं के आश्वासन और प्रलोभन भी दिये जाते थे। मगर हमारे जाति समुदाय को कभी किसी ने लाभ नहीं पहूँचाया। हम दीन-हीन और अपमानित जीवन जीते रहे।"[108]

प्रथा खेतान ने अपनी आत्मकथा में 1975 में इंन्दिरागाँधी द्वारा आपातकाल की घोषणा और जयप्रकाश नारायण द्वारा संपूर्ण क्रान्ति का आह्वान भारतीय जन-जीवन को किस प्रकार प्रभावित किया, इस पर अपना विचार प्रकट किया हैं। आपातकाल में हुई सत्ताधारियों की चालाकी और राजनीतिक पार्टियों और नेताओं में आँखें मूँदकर विश्वास रखनेवाले शिक्षित और सुसंस्कृत लोगों के प्रति लेखिका की नजरिया यों प्रकट हो जाती है "उन दिनों शासन व्यवस्था एकदम से खतम हो गई थी। हमारे सामने एक बात स्पष्ट थी, सत्ता यदि रक्षक है तो वह भक्षक भी हो सकती है। सत्ता की चाल को समझना आसान नहीं। आपातकाल के दौरान बहुतेरे शिक्षित एवं सुसंस्कृत लोगों की सत्ता के प्रति जो अन्धभक्ति का नमूना देखा उससे कभी-कभी मुझे आश्चर्य होता है कि आदमी इतना नीचे कैसे गिर सकता है?"[109] हिन्दी की स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री जीवन की यातनाओं और उत्पीड़न का चित्रण ही नहीं बल्कि उसमें व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन के साथ-साथ सामाजिक और राजानीतिक

परिवेश की ओर भी लेखिकाओं ने नज़र डाली है। उन्होंने अपने-अपने दृष्टिकोण से राजनीति का सूक्ष्म विश्लेषण और विवेचन भी किया है।

3.5 साहित्यिक सन्दर्भ और स्त्री

समाज के अन्य क्षेत्रों के समान साहित्यिक क्षेत्र में भी स्त्रियों को दोहरी मान्यता ही प्राप्त थी। साहित्य के लिए हमेशा स्त्री मनोरंजन का विषय मात्र था, लेकिन धीरे-धीरे स्त्री, साहित्य में कर्ता का स्थान निभाने लगी। जब स्त्री ने साहित्य में प्रवेश करना शुरू किया तो पुरुषवर्चस्ववादी समाज ने उन्हें किसी भी तरह कुचल डालने का षड्यंत्र रचने लगा। वहाँ स्त्री को विपरीत परिस्थितियों का सामना करते हुए अपनी उपस्थिति दर्ज करना अनिवार्य लगा। स्त्री आत्मकथाओं में साहित्यिक क्षेत्र में फैले भ्रष्टाचारों, वरिष्ठ लेखकों की अहंवादि मानसिकता, लेखिकाओं पर होनेवाले शारीरिक शोषण, लेखिका की समस्या आदि का पर्दाफाश हुआ है।

3.5.1 साहित्यिक क्षेत्र में फैली 'गाँडफादर' संस्कृति

साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिए या प्रतिष्ठा पाने के लिए वरिष्ठ लेखकों का पाँव पकड़ना पड़ता है उन्हीं के कृपा-कटाक्ष से ही नए लेखकों या लेखिकाओं को अपनी रचनाओं का प्रकाशन और पहचान संभव हो सकता है। कुसुम अंसल जी के कविता संकलन 'मौन के दो पल' अपने सहकर्मी सलमान की सहायता से छपकर आये जो देवेन्द्र सत्यार्थी ने उसकी भूमिका लिखा था। लेकिन पुस्तक प्रकाशि होकर आई तो उतनी प्रसिद्धि नहीं मिली। लेखकीय संसार में मौजूद वर्चस्ववादी मानसिकता ने नये उभरते लेखक और लेखिकाओं को आगे बढ़ने की फुर्सत ही नहीं देती। उन्हें अपनी रचना के प्रकाशन और उसकी प्रसिद्धी के लिए

‘गॉडफादरों’ के आगे माथा टेकना पड़ता है, कभी उनकी चापलूसी करनी पड़ती है तो कभी उनकी शर्तों पर कुछ करने को विवश होना पड़ता है। कुसुम जी को प्रमोट करने के लिए कोई वरिष्ठ लेखक या ‘गॉडफादर’ नहीं थे यानी किसी ओर की प्रतिष्ठा से अपनी पहचान बनाना वे नहीं चाहती थी। साहित्यिक क्षेत्र में एक रचना का मूल्यांकन भी उन लेखकीय संसार के हाथों से आँकता है न कि उस रचना की श्रेष्ठता के मुताबिक। इसलिए कुसुम जी का दूसरा प्रयास भी अधूरा रह गया। लेखकीय संसार की इस राजनीति का लेखिका पर्दाफाश करती है-“यहाँ कोई न कोई आपको प्रमोट करता है- कोई न कोई आपको लेखकीय संसार में प्रस्थापित करता है, तभी आपकी पुस्तक की ठीक ढंग से आलोचनाएँ छपती है, गोष्ठियाँ होती हैं और फिर काफी हाउस आदि में आप चर्चा का विषय बनते हैं। उसके बाद ही आप लेखक स्वीकारे जाते हैं।”[110] ऐसा होने पर भी लेखिका ने अपना विश्वास नहीं तोड़ा, निराश नहीं हुई उसके अन्दर आगे बढ़ने की तीव्र इच्छा थी, इस इच्छाशक्ति से प्रेरणा पाकर वह आगे बढ़ी।

साहित्य के क्षेत्र में व्याप्त लेखकों के बीच की आपसी प्रतियोगिता, अहंवादिता, प्रतिष्ठा और पुरस्कार प्राप्ति का भागदौड आदि पर भी लेखिका ने दृष्टि डाली है “लेखन का क्षेत्र, अगर ध्यान से देखों तो कबड्डी के मैदान जैसा हो गया है जहाँ एक लेखक दूसरे लेखक की लेखकीय मौत के लिए भागता है, दबोचता है. झपट्टे मारता है, प्रतीक्षा करता है कि उसकी सासें कमज़ोर पड़ जायें और वह मृत घोषित कर दिया जाये।”[111]

मैत्रेयी पुष्पा जी ने भी साहित्य के क्षेत्र में संपादकों और प्रकाशकों की स्वार्थ लिप्सा और वर्चस्ववादी नज़रिये के शिकार होनेवाले रचनाकारों की दयनीय स्थिति

पर अपने ही उदाहरण के स्वरूप विचार किया है। वे कहती है कि साहित्य भी अब बाज़ारवादी चंगुल में फँस गया है। स्वार्थी मनोभाववाले संपादकों और प्रकाशकों ने श्रेष्ठ प्रतिभावान् लेखकों और उनकी रचनाओं का खात्मा कर दिया है। साहित्य की सृष्टि व्यक्ति की चेतना, संपन्नता, स्वतंत्रता और जीवन की बेहतरी के लिए होती है लेकिन आज साहित्य 'गॉडफादरों' की स्वार्थ साधना का साधन है, उनके द्वारा चली गई संस्थाओं का गुलाम है। लेखिका लिखती है "जानती हूँ कि अच्छी रचना की ज़रूरत हर संपादक को होती है, यही मेरा अज्ञान है। नहीं देखती कि साहित्य भी उसी व्यवस्था का शिकार है, जो व्यवस्थित रहने का पुराना नियम अपनाकर लेखक को आपने दायरों में भटकाता है। सरकारी और ट्रस्ट से संचालित साहित्य संस्थाओं में बैठे संपादक खुद को गॉडफादर के रूप में प्रस्तुत करते हैं। 'स्वार्थ साधना' ही परम ध्येय है, की अव्यक्त घोषणा रहती है साथ-साथ।"[112]

3.5.2 साहित्य में पहचान बनाती स्त्री

लेखन के क्षेत्र से जुड़ी स्त्रियों को अपने पारिवारिक काम-धंधे के बाद लिखने के लिए अवकाश ही नहीं मिलता। उन्हें कभी-कभी रसोई में काम करते वक्त या चोरी-चुपके लेखनी चलानी पड़ती है क्योंकि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से स्त्री वंचित थी। स्त्री को आराम से बैठकर लिखने के लिए घर में अपने लिए कोई कमरा भी नहीं होता।

कुसुम अंसल जी ने अपने लेखन कार्य को गहस्थी के बीच आगे बढ़ाती है। उनके लेखन कार्य को परिवारवालों ने कोई अहमियत से नहीं देखा था। वे लिखती है "मेरा उस घर के प्रति कर्तव्य था उस गृहस्थी के प्रति कर्तव्य था उसे पूर्णरूपेण चलाने

का, अतः मैं लिप्त रहती थी। परन्तु होता यह था कि घर के कोने मुझे अवकाश का कोई पल नहीं देते थे। उस लिप्तता के मध्य मेरे लिये कुछ भी लिखना एक चैलंज या चुनौती बन जाता था- और उस चुनौती को मैं अपने भीतर हँसकर स्वीकार रही थी।''[113] कुसुमजी ने कविताएँ लिखना शुरू कर दिया। उनके मानसिक संघर्ष, पीड़ाएँ, आशाएँ और आकांक्षाएँ साहित्यिक रूप धारण करने लगे। अपने लेखन के ज़रिए वह अपने को ढूँढने का प्रयास करने लगी। शुरू-शुरू में अपनी लिखी हुई कविताओं और कहानियों को छपवाने का सहास उनमें नहीं थी। वे कहती है ''मेरा लेखन मेरा पलायन नहीं, मेरा correction था, मुझे सुधार रहा था, मेरे अपनेपन को मेरे ही खोल में लौटा रहा था।''[114] इस प्रकार अपने लेखन के दौरान उन्होंने अपने को निर्मित करना शुरू किया।

नाट्य क्षेत्र से जुड़े अपने सहकलाकार सलमान की सहायता से कुसुम जी का उपन्यास 'उदास आँखें'' छपकर आया तो पाठकों के कई प्रशंसाभरे पत्र उसे प्राप्त हुए। इस घटना अनुभव ने उन्हें अपने-आप में लेखिका का अहसास कराया। 'गृहिणी' की लेबल से 'लेखिका' के लेबल तक की सफर या उस अलग अस्मिता को वे यों प्रस्तुत करती हैं ''मैं अब मात्र कपड़े, धोती, सुखाती, साधारण सी गृहस्थिन नहीं रह गई थी, मेरे उन कामकाजी हाथों में एक कलम भी आ गया था। जिस प्रकार करीने से घर सफा करती थी, फूल लगाती थी, या खाने की मेज़ की सज्जा करती थी, उसी प्रकार लिखती भी थी।''[115]

मन्नू भंडारी बचपन से ही लेखन कार्य में रुचि रखनेवाली थी। शादी के बाद बेटी और घर का पूरा उत्तरदायित्व उनके कंधों पर था। घर चलाने के लिए उन्हें

नौकरी की वजह से भाग-दौड़ करना पडा था, क्योंकि पति लेखकीय व्यक्तित्व के अहं से विभूषित और परिवार के उत्तरदायित्वों को नज़रअंदाज़ करनेवाले थे। इन विपरीत परिस्थितियों के बीच में उन्हें लिखने के लिए समय और सुविधा जुटानी पड़ती थी। उनका पुरा लेखन इन संघर्षों के बीच में से प्रकाश में आया था। उन्होंने अपनी जिम्मेदारियों को बड़ी निष्ठा से निभाकर ही लेखन कार्य ज़ारी रखा। लेखिका कहती है "पहले हर स्तर पर संकट थे, कष्ट थे, समस्याएँ थी, नसों को चटका देनेवाले आघात थे, पर उनके साथ लगातार लिखना भी था.... जो भी, जैसा भी।"[116] अतः उन्होंने अपने लेखन के लिए गृहस्थी को कभी तोड़ने नहीं दिया बल्कि उसे साथ संभालते हुए लेखनी को ज़ारी रखने का जोखिम उठाया। जब दूसरों द्वारा हमारी स्वीकृति हो जाती है तब से इस संसार में हमारी उपस्थिति का एहसास हमें होता है। जब लेखिका की पहली कहानी 'मैं हार गई' पत्रिका में छपकर आई तो उसका मन आतमविश्वास से भर उठा। जिससे उसकी पहचान में एक नया मोड़ आ गया। 'लेखिका' के रूप में उनकी स्वीकृति हुई है। इस एहसास को वे यों व्यक्त करती है "मैं स्वीकृत हुई हूँ, मेरा अपना वजूद स्वीकृत हुआ है- अपनी एक अलग और विशिष्ट पहचान बनाता हुआ वजूद।"[117]

लेखिका मैत्रेयी पुष्पा ने भी कई संघर्षों के बाद ही साहित्य में अपनी अस्मिता स्थापित की। घर-गृहस्थी के बीच में रहकर कष्ट उठाते हुए स्त्री जब अपने शब्दों की लेखन के द्वारा वाणी देती है, तब आती है प्रकाशन या छपाने की समस्या। अपनी रचना को प्रकाशित करने के लिए, पाठकों तक पहूँचाने के लिए उन्हें संपादकों और वरिष्ठ लेखकों के सामने हाथ-पाँव पकडना पड़ता है। कभी-कभी उनके साथ यौन-संबन्ध करने को मज़बूर हो जाता है तो कभी पैसे और साधन-सामग्रियों को

उपलब्ध कराना पड़ता है। बेटियों की प्रेरणा और प्रोत्साहन की वजह से साहित्य में प्रविष्ट होती मैत्रेयी अपनी पहली कहानी लिखकर खुद जाकर 'सारिका' के संपादक को सौंप देती है। लेकिन कहानी वापस लौटती है। दूसरी बार 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के संपादक मनोहरश्याम जोशी के पास जाकर कहानी छापने की सिफारिश की तो उन्होंने छपाने का वादा देकर लेखिका को शारीरिक संबन्ध के लिए मज़बूर किया और उन्होंने तिरस्कार किया तो कहानी वापस लौटी। मैत्रेयी अपनी हिम्मत नहीं हारी, लगातार कहानी लिखती रही, कुल पाँच कहानियाँ अस्वीकृत हुई। जब ग्रामीण जीवन पर लिखी उनकी 'सेंध' कहानी 'हंस' में छपी तो राजेन्द्रजी ने स्वयं मन्नू भंडारी के साथ मैत्रेयी के घर आकर उसकी प्रतिलिपि दी- "जिस संपादक ने मेरा रचनात्मक वजूद पाँच बार धूल में रगड़ा था, वही हंस का वह अंक लेकर मन्नू भंडारी के साथ मेरे घर आए, जिसमें मेरी कहानी 'ज़मीन अपनी अपनी' के नाम से छपी थी।"[118]

लेखिका ने अपनी आत्मकथा में प्रकाशकों और संपादकों द्वारा हुए शोषण के विभिन्न रूप पेश किये हैं। अपनी रचनाओं को छापने की इच्छा से कॉफीहाऊसों के एकांत-कोनों में संपादकों से मिली थी। उन्हें अपने पति डॉक्टर होने के नाते दवाओं के सैंपल भी सप्लाई किया, उनके हॉटलों और पार्टियों का बिल की पेमेंट भी किया, और उन्हें ज़रूरत पड़ने पर अपने कार की सुविधा भी प्रदान किया। संपादकों के प्रति उनकी यह निष्ठा या व्यवहार से उन्हें बदनामी को भी झेलना पड़ा।

कृष्णा अग्निहोत्री जी ने भी अपनी आत्मकथा में संपादकों और प्रकाशकों के द्वारा स्त्री लेखिकाओं को शारीरिक संबन्ध के लिए मज़बूर करने की उनकी भोगवादी

नज़रिए का खुलासा किया है। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के संपादक हिमांशु जोशी द्वारा किये गये प्रेम प्रस्ताव को नकारने से लेखिका की कहानियाँ अस्वीकृत की गयी। वे लिखती है "हिमांशू ने पहले की तरह कहानी, आलेख साप्ताहिक हिन्दुस्तान में स्वीकृत नहीं किए, उलटे आलोचना भरे पत्र लिखे। और यही हुआ। बाह्य रूप से हिमांशु पूर्व-से थे लेकिन आलोचना भरा पत्र लिखे। यहाँ तक लिखा कि मुझे हिन्दी ही नहीं आती! जिस महिला वा लेखिका की वे प्रशंसा करते न थकते थे, वह बुरी हो गई।"[119] आत्मकथा के दूसरे भाग में उन्होंने और एक प्रसंग का भी पर्दाफाश किया है। गोवा विश्वविद्यालय के प्रोफेसर रोहिताश्व चतुर्वेदी द्वारा फोन पर लेखिका को अपने इन्दौर आने की सूचना दी और उनसे उपन्यास की पांडूलिपी भी माँगी। कृष्णाजी नियत समय पर वहाँ आकर उनसे मिली तो रोहिताश्व ने यूनिवेर्सिटी में व्याख्यान देने हेतु बुलाने का वादा देकर उनसे कहा "मेरी पत्नी वहाँ नहीं रहती। गोवा में मैं बहुत अकेला हूँ। इस उम्र में हम कुछ कर तो सकते नहीं। पर साथ तो चाहिए। अच्छा, तुम्हारा भी मासिक धर्म तो नहीं होता होगा। पर हम एक दूसरे के प्यार व आलिंग्न में तो जी सकते हैं।"[120] लेखिका यहाँ इस तथ्य की ओर ज़ोर देती है कि स्त्री हर क्षेत्र में शोषण की शिकार है, पुरुष सिर्फ उसकी 'देह' को देखते है, उनकी श्रेष्ठता या योग्यता उनके सामने कुछ भी नहीं है, इस घटना से दुःखी लेखिका कहती है "मैं तो यही अर्ज करना चाहती हूँ कि कभी तो हमें प्राणी समझो! अन्यथा नारी का इतिहास क्रंदन ही करता चुकता रहेगा।"[121]

स्त्री आत्मकथाओं के अधिकांश लेखिकाओं को साहित्य में अपनी पहचान बनाने के लिए एक ओर घर-परिवार के संघर्षों से गुजरना पड़ता है तो दूसरी ओर साहित्य के क्षेत्र में फैली वरिष्ठ लेखकों, संपादकों और प्रकाशकों के शारीरिक शोषण

का भी शिकार होना पड़ता है। साहित्यिक क्षेत्र की पुरुष वर्चस्ववादी मानसिकता ने नयी उभरती लेखिकाओं को प्रेरणा और प्रोत्साहन देने के बदले उन्हें शुरू से ही कुचल डालने का षड्यंत्र रचते हैं।

3.6 वैयक्तिक सन्दर्भ और स्त्री

स्त्री आत्मकथाओं में स्त्रियों की आत्मव्यथाओं, अन्तरूनी संवेदनाओं और अनुभूतियों की खुली अभिव्यक्ति हुई है। अकेलेपन की पीड़ा, हीन भावना से अत्पन्न आत्मपीड़ा, प्रेम, यौन संबन्ध, मातृत्व आदि के विभिन्न आयामों को बहुत ही संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया है।

3.6.1 अकेलेपन

स्त्री आत्मकथाओं में बचपन से ही अकेलेपन की शिकार होती स्त्रियों की अन्तर्व्यथाओं को बहुत ही बारीकी से उभारने का प्रयास किया है। कुसुम अंसल, प्रभा खेतान, कृष्णा अग्निहोत्री, रमणिका गुप्ता, मैत्रेयी पुष्पा आदि लेखिकाओं को बचपन में, माँ और परिवारवालों के प्यार से वंचित रहने के कारण अकलेपन की त्रसदभरी ज़िन्दगी से गुजरना पड़ा।

जब कुसुम अंसल जी दस महीने की थी तब उसकी माँ गुजर गई और पिता ने दूसरी शादी भी की। सौतेली माँ के मानसिक और शारीरिक उत्पीड़न और घर के नियंत्रण भरे वातावरण से उसके कोमल सी बचपन उलझने लगी। पिता हमेशा व्यवसाय में व्यस्त होने के कारण बेटी पर ध्यान नहीं देता और सौंतेली माँ द्वारा उपेक्षा का पात्र बनती कुसुम को भरपूर संपन्नता में जीते हुए भी अकेलेपन की शिकार होनी पड़ी। वे लिखती है "परछाइयों से भी भय लगता था मुझे और मैं उस

विशालकाय हवेली की जीवन्तता के मध्य डरी-सहमी किसी एक अकेले कोने में चुपचाप खड़ी रह जाती।"[122]

प्रभा खेतान जी दिखने में उतनी सुन्दर नहीं थी और स्मार्ट भी नहीं थी। इसलिए माँ का ध्यान और प्यार उससे ज्यादा उसकी बहन गीता से था। बचपन में माँ के प्यार से वंचित प्रभा जी को पूरी जिन्दगी में अकेलेपन का शिकार होना पड़ा। लेकिन अकेलेपन के इस पाठ ने उसे ज़िन्दगी का अर्थ समझाया। वे लिखती है "मेरा साथ मेरा अकेलापन हमेशा रहा है, पर यह अकेलापन मुझे जीवन का अर्थ भी समझाता रहा। मैं ने अपने- आपको बचाया है, अपने मूलों को जीवन में संजोया है।"[123] अकेलेपन की पीड़ा मनुष्य को कभी-कभी ज़िन्दगी खत्म करने की प्रेरणा देती है तो कभी जीवन परिस्थितियों की चुनौती लेकर देकर आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है।

3.6.2 प्रेम की अनुभूति एवं संकल्पना

प्रेम भावना मनुष्य की कोमलतम रागात्मक भावना है, जो त्याग, समर्पण, सेवा, ममता, वात्सल्य और स्नेह का रूप होता है। आज प्रेम सिर्फ देह के आकर्षण या कामपूर्ती के माध्यम के रूप में बदल गया है। स्त्री आत्मकथाओं में 'प्रेम' को सर्वस्व मानते हुए उसे साकार करने में संघर्ष करने वाली स्त्रियों, पति के प्रेम से वंचित स्त्रियों और उन्मुक्त प्रेम संबन्ध में आस्था रखनेवाली स्त्रियों का भी चित्रण हुआ है।

प्रभा खेतान के लिए प्रेम एक नितान्त निजी अवधारण है। वे अपने से आयू में दुगुने, विवाहित और पाँच संतानों के पिता डॉ. सर्राफ के प्रेम में फँस जाती है।

एक विवाहित पुरुष से प्रेम करके उन्होंने अपनी ज़िन्दगी को चुनौतीपूर्ण बना दिया। अपने स्वच्छन्द प्रेम में उन्होंने कोई नैतिक और अनैतिकता की चिंता नहीं की। प्रभा कहती है "मैं ने उस दिन उस क्षण नहीं समझा था कि उस उत्तेजना की, इस खेल की, इस प्रेम की आनेवाले वक्त में मुझे इतनी बड़ी कीमत चुकानी होगी। उस दिन मैं इतना भर कह पाई थी, "डॉंक्टर साहब! में हर कीमत चुकाने को तैयार हूँ। मुझे अपनी ज़िन्दगी में बस आपकी ज़रूरत है... केवल आपकी।"[124] प्रभा जी ने एक विवाहित व्यक्ति के साथ प्रेम संबन्ध स्थापित करके पूरी ज़िन्दगी उनकी प्रेमिका के रूप में निभायी। वे अपने इस प्रेम के संबन्ध में लिखती है "मुझे पता था जिस राह पर मैं चल पड़ी हूँ वह गलत- सही जो भी पर पूरा भरोसा था।"[125]

कुसुम अंसल जी ने प्रेम में किसी भी तरह का समझौता नहीं चाहा। उसने खुले रूप में उसका एहसास करना चाहा। बचपन से ही प्रेम से वंचित कुसुमजी का मन प्रेम को पाने में तरस रहा था। लकिन पारिवारिक ज़िम्मेदारियों से जूझनेवाले पति अपनी पत्नी की ओर ध्यान नहीं दिया, पत्नी के प्रति उनके प्रेम व्यवहार में एक अभूत संयम था। वे प्रेम को गंभीरता से लेते थे और किसी भी बाहरी प्रदर्शन में विश्वास नहीं रखते थे। जबकि कुसुम जी ने प्रेम को ऐसे संकुचित दायरे में रखना नहीं चाहती थी। वे लिखती है "प्रेम एक इच्छा है, एक इच्छा जो एक विशेष इच्छा के रूप में प्रत्येक हृदय में बहती तरंगित होती है। यह इच्छा मात्र स्त्री पुरुष ही नहीं, वृक्ष की जड़ और फूलों में भी होती है, श्वास और वायू में भी होती है, प्रेम स्त्री-पुरुष के मध्य घटित होता है जिसे शायद शरीर के पाँच तत्व भी चाहे तो ढूँढ नहीं पाते। प्रेम को हवा की तरह ओढ़ा जा सकता है, समुद- सा लपेटा जा सकता है और पर्वतों की तरह बाँहों के बंधन में आलिंगित किया जा सकता है। प्रेम हमारा वायदा

है अपने आपसे किया हुआ जिसे हमें निभाना होता है।"[126] अतः कुसुम जी ने प्रेम को मनुष्य की अन्तरात्मा की एक मानवीय चेतना मानी। पुरुष सत्तात्मक सभी मूल्यों को तोड़ने में मज़ा लेनेवाली रमणिका गुप्ता जी के प्रेम संबन्धी मान्यता बेहद आधुनिक एवं परंपरामुक्त भी है। उन्होंने उन्मुक्त प्रेम के ज़रिए परंपरागत या प्रेम के आदर्शवादी स्वरूप को तोड़ डाला। वे लिखती है "मुझे लगने लग था कि जबरन प्रेम का नाटक चाहे वह पति से हो या प्रेमी से, सबसे बड़ा विश्वासघात है! प्रेम! जब भी उपजे, जिसके लिए भी उपजे, उससे प्यार कर लेना, प्यार के प्रति ईमानदार कोशिश है।"[127] शादी के बाद गैर मर्दों से प्रेम और शारीरिक संबन्ध रखनेवाली रमणिका जी ने अपने प्रेम संबन्ध में किसी भी नैतिक मान्यताओं पर ध्यान नहीं दिया। रमणिकाजी और उसे पढ़ानेवाले प्रो. वाजपेयी, दोनों एक दूसरे से प्रेम करने लगे, और यह प्रेम अन्त में देह संबन्ध तक आते-आते समाप्त भी हो जाता है। प्रो. वाजपेयी के साथ हुई यौन-अनुभूति के बारे में लेखिका लिखती है "अंतिम क्षण तक पहूँचना या न पहूँचना, मेरे लिए हमेश गौण रहा, पर अंतिम क्षण तक पहूँचना के लिए अपनाई गई स्पर्श की वह प्रक्रिया ज्यादा सुखद लगती, चूँकि उसमें एक ललक बाकी रह जाती है।"[128] अधिकांश स्त्री आत्मकथाकारों ने प्रेम को स्त्री जीवन की एक अनिवार्य अनुभूति मानी है।

3.6.3 हीनता बोध

स्त्री आत्मकथाएँ मुख्यतः 'स्त्री होने' के हीन भाव से अपने को बचाने के लिए करती स्त्रियों की दर्दभरी दास्तान है।

संसार के अधिकांश लेग असुन्दरता की हीनभावना के शिकार है। स्त्री आत्मकथाओं में मन्नू भंडारी, प्रभा खेतान, सुशीला राय, कृष्णा अग्निहोत्री आदि लेखिकाएँ ऐसी हीन ग्रन्थी से गुजरी थी। बचपन में पिताजी द्वारा दी गयी 'असुन्दरता की हीनभावना' मन्नू जी को अपनी पूरी ज़िन्दगी में शिकार करती रही। मन्नू जी दिखने में काली रंग की दुबली लड़की थी। गोरा रंग पिताजी की कमज़ोरी थी इसलिए पिताजी मन्नू की बड़ी बहन सुशीला से, जो खूब गोरी, स्वस्थ और हँसमुखवाली थी हर बात में तुलना और उसकी प्रशंसा करते रहते थे। यह मन्नू के भीतर एक ऐसे हीनभाव की ग्रन्थी पैदा की जाती थी जिससे कभी वह उभर नहीं पायी। लेखिका की शब्दों से यह स्पष्ट हो जाती है "शायद अचेतन की किसी पर्त के नीचे दबी इसी हीनभावना के चलते ही मैं अपनी किसी भी उपलब्धी पर भरोसा नहीं कर पाती.... सब कुछ मुझे तुक्का ही लगता है।"[129] बचपन में होनेवाले ऐसी उपेक्षा भाव से बच्चों के मन में इतना चोट लगाती है कि उससे बाहर निकलना कठिन हो जाता है। प्रभा खेतान को भी काली और असुन्दर होने से माँ द्वारा हमेशा उपेक्षा ही मिली, जो उसे पूरी ज़िन्दगी में सताती रही।

मासिक धर्म स्त्री शरीर का एक प्रकृति धर्म है, जो स्त्रियों को मातृत्व के लिए उसकी देह को तैयार करनेवाली स्थिति है। लेकिन ऐसी पवित्र स्थिति को अपवित्र और अछूत कहकर स्त्रियों को अलग रहने को मजबूर करता है। ऐसे सन्दर्भ में शर्म के नाते स्त्री-योनि में जन्म लेने को स्त्री अभिशाप समझती। लड़की को थोड़ी छोटी उम्र से ही मासिक धर्म होने लगें तो इसे एक स्वाभाविक शारीरिक परिवर्तन न मानकर माँ और परिवारवाले उसे कोसते है। इससे स्त्री मन में हीन भावना या अपराधबोध जगाने लगते हैं। प्रभा खेतान ने अपनी इसी हालत को यों प्रस्तुत किया

है “वह भादों की उमस भरी दुपहरिया और चुपचाप बैठे रहना। सारा अस्तित्व हिचकोले खा रहा था। अम्मा मेरा अपराध कया है? कया महीने-के-महीने टाँगों के बीच रिसता हुआ खुन मुझे अच्छा लगता है? और इसके कारण कैसी अजीब-सी आत्मग्लानि, अपराधबोध से मन खारा कयों हो जाता है?”[130]

यौनशोषण की शिकार होती स्त्रियाँ अक्सर अपराध बोध और हीनभावना के शिकार होते-होते कभी जिन्दगी को बीच में ही खत्म करने को मज़बूर हो जाती है। बचपन से ही लगातार यौन शोषण के शिकार होती रमणिका गुप्ता जी को उससे उत्पन्न अपराधबोध और हीनभावना से मुक्ति के लिए निरंतर संघर्ष करनी पड़ा। हीनभावना को झेलती वे लिखती है “में खुद को अपवित्र मानकर मन ही कुढ़ती। खुद की अपराधी मानकर अपने से घृणा करती, अपनी मजबूरी पर तरस खाती, दया करती और खुद को घृणा और करूणा का पात्र मानकर हीनभावना से ग्रस्त रहती।”[131] अतः स्त्रियों की ऐसी हीनभावना से हमेशा अपने को बचाना चाहिए ताकि वे अपनी ज़िन्दगी में आगे बढ़ सकें।

3.6.4 मातृत्व

माँ और बच्चे का रिश्ता सबसे नाजुक है। संसार में अधिकांश स्त्रियाँ मातृत्व में ही अपनी पूर्णता को महसूस करती है। अपने बच्चें की उपेक्षा करके या अपने मातृत्व की उपेक्षा करके किसी भी स्त्री को अपने व्यक्तित्व की बात सोचना या अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं की बात सोचना बहुत ही कठिन कार्य है।

मन्नू भंडारी जब ‘आपका बंटी’ उपन्यास लिखने के लिए घर से बाहर होस्टल में रहने लगी तो टिंकू की व्यवहार और यादें उसे सताने लगी। इस

आत्मसंघर्ष को उन्होंने इस प्रकार प्रस्तुत किया है "महिला होने के नाते मुझे बाहर के किसी संकट या व्यवधान का कभी कोई सामना नहीं करना पड़ा, पर इस आंतरिक संकट को क्या कहा जाए? जहाँ तक सोचती हूँ, हर लेखिका को कभी, किसी न किसी स्तर पर इस तरह के आन्तरिक संकट से तो ज़रूर ही गुज़रना पड़ता होगा।"[132] लेखिका इस बात की ओर भी ध्यान दिला रही है कि कभी स्त्री अपने व्यक्ति पक्ष को प्रमुखता देतीं तो उसके मातृत्व को दाँव पर रखना पड़ता है, और जब मातृ पक्ष पर ज़ोर देते है तो व्यक्तित्व को तिलांजली देने पड़ेगा। ऐसे द्वन्द्व में वह न पूरी तरह व्यक्ति बन पाती न माँ। रमणिका गुप्ता जी भी ऐसी हालत से गुजरी थी। इंशयोरंस कंपनी में नौकरी मिली तो उन्होंने अपने बेटे टूटू को मॉटेसरी हॉस्टल में रहने की व्यवस्था की। दिन-रात अपनी छोटी सी मासूम बेटे से बिछुडकर रहने में मजबूर लेखिका कहती है "मेरी ममता तो बहुत जोर मारती, पर क्या करती? नौकरी में बच्चे को साथ रखना अलउड़ नहीं था। मुझे बड़े-बड़े लोगों को इंश्योरैस करने बाहर भी जाना पड़ता था।"[133]

निष्कर्ष

शताब्दियों के उत्पीड़न से मुक्ति की अनंत अभिलाषा ने स्त्रियों को कलम के ज़रिए प्रतिरोध करने की ताकत प्रदान की, ऐसी ताकत से स्त्री अपनी अर्न्तव्यथाओं, इच्छाओं और आक्रोश को व्यक्त करने के लिए आत्मकथा जैसे सशक्त माध्यम को अपनाया। अन्य साहित्यक विधाओं की अपेक्षा स्त्री जीवन की विविध मुखी समस्याओं को व्यापक धरातल पर प्रस्तुत करने में स्त्री आत्मकथाओं की भूमिका सराहनीय है।

स्त्री आत्मकथाओं का स्त्री विमर्श की दृष्टि से अध्ययन करने से पता चलता है कि पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और साहित्यिक क्षेत्र में स्त्रियाँ झेलनेवाली समस्याओं, उनके आत्मसंघर्षों, और प्रतिरोधों को स्त्री आत्मकथा में उजागर किया है। उनमें पित्रसत्तात्मक व्यवस्था के चंगुल में फँसी स्त्रियों की मुक्ति की छटपटाहट है। पितृसत्तात्मक परिवार स्त्री शोषण का सबसे पुख़्ता जमीन है। जहाँ स्त्री केवल एक गुलाम है, और वह नौकरानी की हैसियत से जीने में मजबूर है। स्त्री परिवार में रिश्तों के नाम से जानी जाती है। परिवार का हर कार्य संभालते हुए भी वहाँ अस्तित्वविहीन होकर जीनेवाली स्त्रियों की विवशता का चित्रण स्त्री आत्मकथाओं में हुआ है। परिवार में मौजूद लिंग भेद की राजनीति और पुरुष सत्ता की वर्चस्ववादी एवं अहंवादी मानसिकता की शिकार होनेवाली स्त्रियों की दयनीय स्थिति का भी अंकन इसमें हुआ है। परिवार में फैली पुरुष वर्चस्ववादी मान्यताओं से तंग आकर परिवार से अलग होकर उन्मुक्त जीवन जीने के लिए स्त्रियाँ मजबूर हो जाती है। रमणिका गुप्ता, मन्नू भंडारी, कृष्णा अग्निहोत्री आदि लेखिकाएँ विवाह-विच्छेद की रास्ता अपनाकर पति से अलग होकर स्वतंत्र जीवन जीने के लिए उन्मुख हो जाती है। घर में स्त्रियों को अपने ही परिवारवालों द्वारा यौन-शोषण आम बात बन गई है। प्रभा खेतान, रमणिका गुप्ता, कृष्ण आग्निहोत्री आदि इसका शिकार है। स्त्रियों को स्त्री के रूप में बनाने में परिवार और समाज का बहुत बड़ा हाथ है।

पितृसत्ता ने स्त्रियों को हमेशा अपने नियंत्रण में रखने के लिए, अपने इच्छानुसार सामाजिक मूल्यों का निर्माण किया, जो स्त्रियों के प्रतिपक्षी थे। 'विवाह संस्था' एक ऐसी सामाजिक संस्था है, जिसमें स्त्रियों को बालविवाह, अनमेल विवाह, दहेज प्रथा, आदि शोषण तंत्रों का सामना करना पड़ता है। अनमेल विवाह से वैधव्य

की भीषण स्थितियों से गुज़रना पड़ता है। 'कस्तूरी कुंडल बसै', 'सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी' आदि आत्मकथाओं में विधवाओं की समस्याओं की चर्चा की है। दलित स्त्रियों को पितृसत्ता के अमानवीय व्यवहारों के साथ-साथ, जातिय अस्मिता से भी लड़ना पड़ता है। सभी स्त्री आत्मकथाकारों ने स्त्रियों की दमित स्थिति का कारण उनकी अशिक्षा और आर्थिक परावलंबन को माना। स्त्री मुक्ति के लिए आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होने की अनिवार्यता पर बाल दिया। राजनीति में स्त्रियों को शोषण का शिकार बनानेवाले पुरुषों के भोगवादी नज़रियों पर प्रकाश डालती है रमणिका गुप्ताजी की आत्मकथा 'आपहुदरी'। साहित्य के क्षेत्र में फैली 'गॉडफादर' संस्कृति, वरिष्ठ लेखकों और संपादकों द्वारा नई उभरती लेखिकाओं पर होनेवाले शोषण का भी पर्दाफाश इन आत्मकथाओं में हुआ है।

स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री जीवन की तमाम समस्याओं के प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ स्त्री का प्रतिरोधात्मक तेवर भी प्रतिफलित हुआ है। अपनी आत्मकथाओं के ज़रिए लेखिकाओं ने अभी तक दबाकर रखी हुई अपनी व्यैक्तिक अनुभूतियों को खुलेआम प्रस्तुत करने का साहस दिखाया है। स्त्री की अनुभूतियाँ उनकी अपनी है, जैसे मातृत्व की अनुभूति, प्रसव पीड़ा, यौनानुभूति आदि का बेहिचक प्रस्तुतीकरण हुआ है। साहित्यिक क्षेत्र में मौजूद पुरुषवर्चस्व को चुनौती देने में सक्षम है ये आत्मकथाएँ। स्त्रियों को मुक्ति के लिए, शिक्षा, आर्थिक आत्मनिर्भरता और प्रतिरोध का पाठ पढाती इन आत्मकथाकारों ने स्त्री को हाशिए से मुक्त करके मानवी के रूप में प्रतिष्ठित करने की माँग की है।

संदर्भ सूची

1. राजकिशोर- स्त्री परंपरा और आधुनिकता, पृ.143
2. सुशीला राय- एक अनपढ कहानी, पृ.14
3. मन्नू भंडारी- एक कहानी यह भी, पृ.15
4. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ.214
5. कुसुम अंसल- जो कहा नहीं गया, पृ.59
6. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ.212
7. वही, पृ.15
8. रमणिका गुप्ता- आपहुदरी, पृ.255
9. चन्द्रकिरण सौनरेक्सा- पिंजरे की मैना, पृ.117
10. मन्नू भंडारी- एक कहानी यह भी, पृ.96
11. सुशीला टाकभौरे- शिकंजे का दर्द, पृ.200
12. कृष्णा अग्निहोत्री- लगता नहीं है दिल मेरा, पृ.153
13. कौसल्या बैसंत्री- दोहरा अभिशाप, पृ.104
14. रमणिका गुप्ता- आपहुदरी, पृ.71
15. मैत्रेयी पुष्पा- गुड़िया भीतर गुड़िया, पृ.130
16. वही, पृ.96
17. मैत्रेयी पुष्पा- कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ.18
18. सुशीला टाकभौरे- शिकंजे का दर्द, पृ.66

19. मन्नू भंडारी- एक कहानी यह भी, पृ.19

20. कृष्णा अग्निहोत्री- लगता नहीं है दिल मेरा, पृ.180

21. सुशीला राय- एक अनपढ कहानी, पृ.7

22. मैत्रेयी पुष्पा- कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ.12

23. कौसल्या बैसंत्री- दोहरा अभिशाप, पृ.28

24. डॉ. करुणा शर्मा- कमलेश्वर के कथा साहित्य में स्त्री विमर्श, पृ.68

25. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ.38

26. सुशीला टाकभौरे- शिकंजे का दर्द, पृ.17

27. चन्द्रकिरण सौनरेक्सा- पिंजरे की मैना, पृ.72

28. सुशीला टाकभौरे- शिकंजे का दर्द, पृ.133

29. कृष्णा अग्निहोत्री- लगता नहीं है दिल मेरा, पृ.30

30. प्रज्ञा पाठक- सरला: एक विधवा की आत्मजीवनी, पृ.35

31. https://m.hindi.webdunia.com

32. कृष्णा अग्निहोत्री- लगता नहीं है दिल मेरा, पृ.31

33. रमणिका गुप्ता- आपहुदरी, पृ.139

34. वही, पृ.123

35. वही, पृ.173

36. वही, पृ.141

37. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ.93

38. कृष्णा अग्निहोत्री- लगता नहीं है दिल मेरा, पृ.100

39. कृष्णा अग्निहोत्री- लगता नहीं है दिल मेरा, पृ.126

40. मन्नू भंडारी- एक कहानी यह भी, पृ.14

41. वही, पृ.64

42. प्रभा खेतान- उपनिवेश में स्त्री, पृ.39

43. सुशीला टाकभौरे- शिकंजे का दर्द, पृ.144

44. कोसल्या बैसंत्री- दोहरा अभिशाप, पृ.104

45. मैत्रेयी पुष्पा- कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ.257

46. मैत्रेयी पुष्पा- गुडिया भीतर गुड़िया, पृ.130

47. पद्मा सचदेव- बूँद बावड़ी, पृ.132

48. रमणिका गुप्ता- आपहुदरी, पृ.248

49. मन्नू भंडारी- एक कहानी यह भी, पृ.156

50. प्रभा खेतान- उपनिवेश में स्त्री, पृ.27

51. मन्नू भंडारी- एक कहानी यह भी, पृ.223, 224

52. वही, पृ.28

53. कुसुम अंसल- जो कहा नहीं गया, पृ.107

54. मैत्रेयी पुष्पा- कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ.195

55. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ.261

56. वही, पृ.260

57. सुशीला राय- एक अनपढ कहानी, पृ.7

58. प्रज्ञा पाठक- सरला: एक विधवा की आत्मजीवनी, पृ.33

59. सुशीला टाकभौरे- शिकंजे का दर्द, पृ.31

60. दिनेश नंदिनी डालमिया- मुझे माफ करना, पृ.8

61. वही, पृ.19

62. सुशीला राय- एक अनपढ कहानी, पृ.8

63. सुशीला टाकभौरे- शिकंजे का दर्द, पृ.146

64. प्रज्ञा पाठक- सरला: एक विधवा की आत्मजीवनी, पृ.39

65. कोसल्य बैसंत्री- दोहरा अभिशाप, पृ.17

66. कुसुम अंसल- जो कहा नहीं गया, पृ.200

67. मैत्रेयी पुष्पा- कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ.118

68. लीलाधर जगूडी- भय भी शक्ति देता है, पृ.91

69. सुशीला टाकभौरे- शिकंजे का दर्द, पृ.36

70. वही, पृ.134

71. वही, पृ.30

72. मैत्रेयी पुष्पा- गुडिया भीतर गुड़िया, पृ.93

73. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ.40

74. कुसुम अंसल- जो कहा नहीं गया, पृ.42

75. सुशीला टाकभौरे- शिकंजे का दर्द, पृ.58

76. वही- भूमिका से

77. कोसल्य बैसंत्री- दोहरा अभिशाप, पृ.53

78. सुशीला टाकभौरे- शिकंजे का दर्द, पृ.15

79. मन्नू भंडारी- एक कहानी यह भी, पृ.77

80. रमणिका गुप्ता- आपहुदरी, पृ.291

81. मैत्रेयी पुष्पा- कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ.42

82. वही, पृ.103

83. कृष्णा अग्निहोत्री- और.. और.. औरत, पृ.65

84. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ.247

85. कृष्णा अग्निहोत्री- और.. और.. औरत, पृ.104

86. मन्नू भंडारी- एक कहानी यह भी, पृ.123

87. वही, पृ.24

88. मैत्रेयी पुष्पा- कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ.31

89. रमणिका गुप्ता- आपहुदरी, पृ.222

90. वही, पृ.220

91. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ.24

92. वही, पृ.24

93. कोसल्या बैसंत्री- दोहरा अभिशाप, पृ.100

94. चन्द्रकिरण सौनरेक्सा- पिंजरे की मैना, पृ.339

95. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ.211

96. मन्नू भंडारी- एक कहानी यह भी, पृ.84

97. चन्द्रकिरण सौनरेक्सा- पिंजरे की मैना, पृ.352

98. सुशीला टाकभौरे- शिकंजे का दर्द, पृ.24

99. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ.156

100. वही, पृ.156

101. सुशीला टाकभौरे- शिकंजे का दर्द, पृ.252

102. वही, पृ.252

103. अरविंद जैन- उत्तराधिकार बनाम पुत्राधिकार, पृ.220

104. रमणिका गुप्ता- हादसे, पृ.53

105. वही, पृ.27

106. रमणिका गुप्ता- आपहुदरी, पृ.380

107. मन्नू भंडारी- एक कहानी यह भी, पृ.141

108. सुशीला टाकभौरे- शिकंजे का दर्द, पृ.29

109. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ.240

110. कुसुम अंसल- जो कहा नहीं गया, पृ.82

111. वही, पृ.212

112. मैत्रेयी पुष्पा- गुडिया भीतर गुड़िया, पृ.200

113. कुसुम अंसल- जो कहा नहीं गया, पृ.101

114. वही, पृ.35

115. कुसुम अंसल- जो कहा नहीं गया, पृ.81

116. मन्नू भंडारी- एक कहानी यह भी, पृ.13

117. वही, पृ.37

118. मैत्रेयी पुष्पा- गुडिया भीतर गुड़िया, पृ.211

119. कृष्णा अग्निहोत्री- लगता नहीं है दिल मेरा, पृ.314

120. कृष्णा अग्निहोत्री- और.. और... औरत, पृ.52

121. वही, पृ.52

122. कुसुम अंसल- जो कहा नहीं गया, पृ.19

123. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ.29

124. वही, पृ.84

125. वही, पृ.71

126. कुसुम अंसल- जो कहा नहीं गया, पृ.57

127. रमणिका गुप्ता- आपहुदरी, पृ.272

128. वही, पृ.273

129. मन्नू भंडारी- एक कहानी यह भी, पृ.18

130. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ.40

131. रमणिका गुप्ता- आपहुदरी, पृ.202

132. मन्नू भंडारी- एक कहानी यह भी, पृ.115

133. रमणिका गुप्ता- आपहुदरी, पृ.288

चौथा अध्याय

हिन्दी महिला आत्मकथाः भाषा एवं शैली

4.1 भाषा

अभिव्यक्ति एवं विचार-विनिमय का सांकेतिक साधन है भाषा, जिससे हमारे भावों और विचारों के संप्रेषण संभव हो जाते हैं। भाषा के ज़रिए एक व्यक्ति अपने भावों और विचारों की अभिव्यक्ति करते समय व्यक्ति का पूरा अस्तित्व उभरकर सामने आता है। राजेन्द्र यादव के शब्दों में "भाषा में ही मनुष्य का अस्तित्व है, भाषा अभिव्यक्ति के स्तर पर आने से पहले व्यक्ति का संस्कार, स्वभाव और प्रकृति बन चुकी होती है। जब भाषा के द्वारा साहित्यकार अपने भावों और विचारों की अभिव्यक्ति देते है तब पाठक और लेखक के बीच एक अंतरंगता स्थापित हो जाती हैं।"[1]

4.1.1 स्त्री की भाषा

भाषा के बिना संप्रेषण असंभव है और भाषा के बिना 'स्व' की तलाश भी असंभव है। प्रत्येक मनुष्य के 'स्व' को पहचानने में भाषा की अपनी भूमिका है। मनुष्य का 'स्व' स्त्री एवं पुरुष में हमेशा से विभाजित रहा है, जिसका प्रमाण भाषा के माध्यम से भी प्राप्त होता है। संसार की अधिकांश भाषाओं की भाषिक संरचना में लिंगभेद किसी न किसी रूप में मौजूद है। हिन्दी भाषा और साहित्य भी इससे अछूता नहीं है। प्रचलित परंपरागत पुरुष भाषा 'स्त्रीत्व' की अभिव्यंजना में बाधा डालती है क्योंकि पुरुष भाषा की अपनी सीमा होती है, जिससे स्त्री जीवन की संवेदनाओं को पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति नहीं हो पाती। इसलिए स्त्री की अपनी भाषा की ज़रूरत पड़ी, जो उनकी अपनी पहचान का प्रमाण होती है। स्त्रीवादियों की दृष्टि से जिस प्रकार स्त्रीविमर्श को मात्र स्त्रियों का अड्डा मानना गलत है, उससे ही

ज़्यादा खतरनाक है समग्र साहित्य को लिंगनिरपेक्ष या सर्व सामान्य मानना। स्त्री अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए परंपरागत भाषा- संरचना काम में नहीं आती। इसलिए स्त्री ने अपनी ही भाषा या 'स्त्री-भाषा' जैसी अलग अवधारणा की माँग की। एड्रीन रिच का कथन है "परंपरागत समाज में लेखिकाएँ-वर्चस्ववादी भाषा का उपयोग करती है, कई कारणों से वे उसे खारिज नहीं कर पाती हैं, उनकी 'अलग' भाषा-शैली अभी तक पूर्ण रुप से विकसित नहीं हो पाई है। प्रयास ज़ारी रखना कि स्त्रीत्व का पूरा उभार संभव करने योग्य भाषा- संरचना बन सके।"[2] आज स्त्रियाँ अपनी ही भाषा के ज़रिए जीवन संघर्ष की वास्तविकता को उजागर कर रही है अतः स्त्री की भाषा अपनी प्रकृति और स्वभाव में पुरुष भाषा से बिल्कुल भिन्न मानी जाती है। पुरुष वाक्यों का अंधानुकरण, भाषा के परंपरागत स्वरुप संरचना, स्त्री विरुद्ध गालियाँ और शैलियों के प्रयोग तथा लिंगभेद को सूचित करनेवाले शब्दों का प्रयोग आदि से स्त्री-भाषा को दूर रहना है। नामवरसिंह ने स्त्री भाषा की तुलना चिड़िया से करते हुए कहा कि "स्त्री की भाषा मुक्त है व आकाश छू सकती है।"[3] स्त्री अपनी भाषा से अपने को मुक्त करने का प्रयास कर रही है। वर्चस्ववादी भाषिक स्वरूप को तोड-फोड़कर भाषा के क्षेत्र में क्रान्तीकारी परिवर्तन लाते हुए एक अलग पहचान की ओर अग्रसर है 'स्त्री की भाषा'। डॉ. प्रमीला जी की राय में- "सार्वकालिक इंसानियत की रक्षा में प्रवर्तित स्त्री-भाषा के सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक उपयोग में सामाजिक उपादेयता लक्ष्य सम्मिलित है।"[4]

4.1.2 स्त्री आत्मकथा की भाषा

साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा 'आत्मकथा' का अभिव्यक्ति पक्ष बहुत ही सशक्त है। क्योंकि उसमें आत्मकथाकार द्वारा स्वानुभवों की प्रामाणिक अभिव्यक्ति

होती है। ऐसी प्रामाणिक अभिव्यक्ति में भाषा भी महत्वपूर्ण है। अपनी अंतर्व्यथाओं, प्रतिरोधों और अस्मिता को प्रस्तुत करने के लिए सबसे सरल, सशक्त और प्रभावी भाषा चाहिए जिससे आत्मकथाकार को अपने जीवन की सार्थक अभिव्यक्ति संभव है।

आत्मकथा उत्तम पुरुष एकवचन में लिखी जाने के कारण यह पाठकों से अंतरंग और आत्मीयता का संबन्ध स्थापित कर सकती है। स्त्री आत्मकथा की भाषा स्वानुभूति को प्रस्तुत करनेवाली होने के कारण सशक्त और तीव्र भी है। आत्मकथा के द्वारा स्त्री ने अपनी एक अलग भाषा को गढ़ने का प्रयास किया है। साहित्यिक क्षेत्र में उपस्थित सब रूढ़ीवादी मान्यताओं का खंडन कर अपनी भाषा का निर्माण कर रही है। स्त्री आत्मकथा की भाषा में मुक्ति के लिए छटपटानेवाली स्त्री की आवाज़ गुँजित है जो स्त्री की स्वतंत्र अस्मिता के लिए वकालत करती है। उनकी समस्याओं, संवेदनाओं, विरोधों और भावनाओं को वाणी देने में स्त्री आत्मकथा की भाषा सफल सिद्ध हुई है।

4.1.2.1 अंतर्संवेदनाओं की गहरी अभिव्यक्ति

स्त्रियों को अपनी मनोव्यथाओं और मनोदशाओं की अभिव्यक्ति के लिए स्त्री भाषा का ही प्रयोग करनी चाहिए, क्योंकि उनकी अनुभूतियाँ उनकी अपनी है। साहित्य की अन्य विधाओं से अलग आत्मकथाओं में स्त्री की वैयक्तिक अनुभूतियों की गहरी अभिव्यक्ति हुई है। अपने सुख-दुःख की संवेदनाओं को स्त्री आत्मकथाकारों ने सरल शब्दों, छोटे और संक्षिप्त वाक्यों में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उत्तम पुरुष एकवचन में या 'मैं' शैली में प्रस्तुत आत्मकथा के ज़रिए स्त्री अपने जीवन के कटु-अनुभवों का खुलासा करती है। आत्मकथा में व्यक्त स्त्री-भाषा में दबी हुई स्त्री-अस्तित्व का आत्मरोदन है।

अधिकांश स्त्री आत्मकथाओं में लेखिकाओं ने अकेलेपन की पीड़ा, स्त्री होकर जन्म लेना, उससे उत्पन्न आंतरिक संघर्ष, मातृत्व की अनुभूति, मासिक धर्म और उसकी अनुभूति, शारीरिक बदलाव की अनुभूति, संभोग की अनुभूति इत्यादि को बहुत ही गहराई से अभिव्यक्त किया है। 'असुन्दरता' की हीनभावना से पीडित स्त्री मानसिकता का चित्रण स्त्री आत्मकथाओं में हुआ है। काले रंग के होने के कारण जीवन-भर में उपेक्षा की पात्र बनी सुशीला राय की दर्दभरी आवाज़ है "मैं अपने मन में सोचने लगी कि मैं काली हूँ इसका अपमान और कष्ट जब मुझे शादी के पहले ही सहना पडता है तो शादी के बाद मुझे कितना सहना पडेगा।"[5] शादी के बाद भी काली होने की मानसिक पीड़ा से वह मुक्त नहीं हो पायी। क्योंकि सास और पति द्वारा अवहेलना का पात्र बनती रही। इसी प्रकार 'असुन्दरता' और अकेलेपन से पीडित है प्रभा खेतान। दिखने में असुन्दर होने से माँ द्वारा उपेक्षित या माँ के प्यार से वंचित प्रभा खेतान बचपन से लेकर पूरी ज़िन्दगी में अकेलेपन की शिकार होती रही। अकेलेपन की भीषण स्थिति को प्रस्तुत करने के लिए प्रभाजी द्वारा प्रयुक्त भाषा पाठकों के दिल तोड़नेवाली है। जैसे "कैसा आनाथ बचपन था अम्मा ने कभी मुझे गोद में लेकर चूमा नहीं। मैं चुपचाप घंटों उनके कमरे के दरवाज़े पर खड़ी रहती। शायद अम्मा मुझे भीतर बुला लें। शायद..हाँ, शायद अपनी रजाई में सुला लें। मगर नहीं, एक शाश्वत दूरी बनी रही हमेशा हम दोनों के बीच। अम्मा मेरी बातों को समझ नहीं पाती थी।"[6] माँ के प्यार के लिए तडपती एक लड़की की दर्दभरी वाक्य है यह।

यौन-शोषण के शिकार होती स्त्रियों में अपराध किये बिना भी एक अपराध-बोध भावना निरंतर सताती रहती है। इस अपराधबोध की हीनभावना से मुक्त होना

कठिन है। लगातार यौनशोषण की शिकार होती रमणिका गुप्ता जी ने अपनी मानसिक स्थिति को बहुत ही सूक्ष्मता से विश्लेषण किया है- "मेरी शुचिता बार-बार टूटी और उस टूटन ने उसकी निरर्थकता का एक बोध भी कहीं मेरे मानस में भर दिया। इस टूटन का अपराधबोध मुझे हीनता से भरता रहा। बहुत बाद में जाकर मैं इससे उबर पाई।"[7]

हर स्त्री मातृत्व में अपनी पूर्णता को तलाशती है। गर्भ धारण करना और बच्चों को जन्म देना सिर्फ स्त्री की ही प्रकृति है, जिससे होनेवाले शारीरिक परिवर्तन और संवेग की अभिव्यक्ति सिर्फ स्त्री ही कर सकती है। मैत्रेयी पुष्पा ने उसकी प्रसव पीड़ा और बाद की शारीरिक बदलाव और मानसिकता को बहुत ही निराले ढंग से उभारने का प्रयास किया है। प्रसूती के सन्दर्भ को वे यों व्यक्त करती है- "उफन-उफनकर रुलाई आए जा रही है, क्योंकि शरीर में कोई ऐसा रेशा नहीं, जो शान्त हो, सामान्य हो, प्रसव क्या था, देह की चीर-फाड़। दर्द का ऐसा सोता कि तड़पने के जौहर तक पस्त हो गए। तीखी और लंबी चीखों ने दीवार फाड़ डाली। मैत्रेयी ने तकलीफ के जोर से दो पडोसिन-औरतों की गर्दन तोड़ डाली।"[8] प्रसव पीड़ा की तीव्रता को सर्वजनिक बनाने केलिए मैत्रेयी जी ने उतनी ही तीव्र भाषा का प्रयोग किया है। माँ होने के बाद अपने शरीर में होनेवाले बदलाव या मातृत्व की एहसास को बिना कोई दुराव-छिपाव के प्रस्तुत करती है "मैत्रेयी के स्तन उमड़े हैं, ब्लाउज भीग उठा! इस रहस्यमयी माया में खोई स्त्री कभी रोती है, कभी हँसती है और उल्लसित होकर अपनी नवजात के चेहरे में गुम हो जाती है। बच्ची को उठाकर भरे और बहते हुए स्तन से लगा लिया। पति न आ जाएँ, साड़ी के पल्ले से बेटी का भोजन ढंक लिया।"[9] मातृत्व की खूबसूरत स्थिति को मैत्रेयी जी ने खूबसूरत भाषा

से सजीव बना दिया। सुशीला टाकभौरे जी ने प्रसूती के समय की अपनी शारीरिक हालत को बहुत ही गंभीरता से पेश किया है "प्रसूती के पहले मुझे बहुत डर लगता था। ऐसे समय में मुझे नानी की बहुत याद आती थी। नानी की तबीयत ठीक न होने के कारण वह मेरे पास नहीं आ सकी। उन दिनों अक्सर-मुझे सपना दिखता था- मैं सपने में भयभीत हूँ और नानी मुझसे कह रही है'- 'तू डरे क्यों है? मैं हूँ न तेरे संग।' तब मन में विश्वास हो जाता था, नानी का आशीर्वाद मेरे साथ है, सब कुछ ठीक होगा। प्रसूती के समय मेरे पूरे शरीर में सूजन थी। मुझे बहुत कठिन और खतरनाक स्थिति से गुज़रना पड़ा था।"[10] सुशीला टाकभौरे जी ने अपनी आत्मकथा में दलित होने की पीड़ा और उससे उत्पन्न हीन-भावना उसके पूरे व्यक्तित्व को किस तरह प्रभावित किया है, उसका चित्रण विद्रोहात्मक भाषा के ज़रिए प्रस्तुत किया- "मैं अस्पृश्य हूँ, इसका मुझे बहुत दुःख होता था और मैं हीनता महसूस करती थी। कोई मुझे मेरी जाति न पूछ बैठे, इसका मुझे सदैव डर रहता था।"[11]

स्त्री आत्मकथाओं में लेखिकाओं ने अपनी प्रेमानुभूतियों और उसके बाद यौनानुभूतियों का भी खुला चित्रण किया है। रमणिका गुप्ता अपने प्रेमी प्रकाश के साथ हुई संभोग की अनुभूति को बिना झिझक के प्रस्तुत करती है "उस दिन मैं ने पहली बार प्यार को आँखें खोल कर स्वीकारा। सम्भोग के अर्थ को मैं ने उस दिन पहचाना। पहले तो सब कुछ यंत्रवत था। मुझे कुछ कष्ट भी हुआ जो नहीं होना चाहिए था, पर मैं ने स्वयं इस रति में साझीदारी की थी, इसलिए वह कष्ट मुझे हो रहा था।"[12] रमणिका जी अपने प्रेम संबन्धों और प्रेमी प्रकाश द्वारा उस की होठों पर चुम्बन देने के बाद की अपनी चेष्टाओं को ऐसा प्रस्तुत करती है- "मैं लौट तो आई, पर रात भर होंठों पर हाथ रखती और हाथ को चूमती रही। मैं अपने होठों

पर लगे प्रकाश के होठों के स्पर्श और उस चुम्बन के अहसास को फिर से जी लेने का प्रयास कर रही थी। उस दिन मुझे अपना वक्ष कुछ अधिक उभरा नज़र आया, कुछ कहता-सा, किसी स्पर्श के लिए बेचैन-सा।"[13] जब लड़की बडी होने लगी तो लड़की की समझ से पहले समाज उसे पहले बता देती है। लड़की के बडे होने के साथ-साथ उसके शारीरिक बनावट में भी परिवर्तन होने लगता है। एक स्त्री अपने शारीरिक बदलाव को कैसे महसूस करती है, इसका चित्रण रमणिका गुप्ता जी ने बहुत ही सरल भाषा में समाज के सामने रखा है- "मैं सिनेमा देखकर लौटती तो घंटों सोचती रहती। अपने वक्ष को देखकर मुस्कराती। कनखियों से अपने उभारों को देखती। एकांत में भी मैं अपना वक्ष खुली नज़र से नहीं देख पाती थी। कनखियों से ही देखकर तुरन्त आँखें झुका लेती, पर नज़रें चुरा कर देखना मुझे अच्छा लगता था।"[14] स्त्री आत्मकथाओं में लेखिकाओं द्वारा सार्वजनिक करती ये संवेदनाएँ सिर्फ स्त्री की ही संवेदनाएँ है। जो सिर्फ उन लेखिकाओं की ही नहीं बल्कि पूरे स्त्री समाज की है जिसे सरल, सहज और प्रभावात्मक भाषा से पाठकों के सामने पेश किया है। अभी तक दबाई गई अनुभूतियों की आज स्त्री ने अपनी भाषा के ज़रिए शब्द देने का प्रयास किया है। स्त्री आत्मकथाओं के भाषिक प्रयोग से इन अनुभूतियों को जीवन्त बनाने में लेखिकाएँ सक्षम निकली है।

4.1.2.2 खुली अभिव्यक्ति

विषय की सूक्ष्मता के अनुसार स्त्री आत्मकथाओं में अभिव्यक्ति के लिए एक अलग भाषा को निर्मित करने का प्रयास किया है। यह भाषा कहीं-कहीं परंपरागत नैतिक मापदंडों का उल्लंघन करने में हिचकती नहीं हैं। स्त्री आत्मकथाओं ने भाषा के रुढ़ प्रयोगों से अपनी रचनात्मकता को मुक्त करने का प्रयास किया है।

डॉ. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के अनुसार "सच्चा लेखक उस ज़िन्दगी को अपने हाथ से गिरने नहीं देता क्योंकि लिखते समय उसके सामने न कोई मतवाद होता है न परंपरागत नैतिकता। उसके सामने वह ज़िन्दगी होती है, उसकी वास्तविकताएँ होती है और अपना अनुभव विवेक होता है तथा उसे पाठक तक पहूँचाने की कामना होती है।"[15] अपने अनुभवों को यथावत पाठकों तक प्रेषित करने के लिए स्त्री आत्कथाकार भाषा में कोई कृत्रिमता और नीरसता नहीं लाई बल्कि बेहिचक सारे अनुभवों की खुल्ली अभिव्यक्ति की है।

आत्मकथा में स्त्री द्वारा यौन-संदर्भों और प्रेम क्रीडाओं का खुले आम प्रस्तुतीकरण हो जाए तो उसे अश्लीलता की छाप देकर कुचलने का प्रयास किया जाता है। रमणिकाजी कहती है "श्रृंगार के साहित्य ने तो श्लील-अश्लील की हदें तोड दी है, स्त्री को यौनिक श्रेणियों तक में बाँट दिया गया है काम-शास्त्र में। यह सब पुरुषों द्वारा रचा गया साहित्य है, जिसमें रस ले लेकर स्त्री के सौन्दर्य और उसकी यौनिकता का बखान है और कालजयी कहलाती है यह साहित्य। कोई वर्जना नहीं, कोई प्रतिबंध नहीं, कोई कटाक्ष नहीं।"[16] स्त्री आत्मकथाओं में भी भाषा के ऐसे बेहिचक प्रयोग देखने को मिलती है। ऐसी आत्मकथाओं पर अश्लीलता का आरोप लगाना आम बात बन गई है। मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुण्डल बसै, कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा', प्रभा खेतान की 'अनन्या से अनन्या', रमणिका गुप्ता की 'आपहुदरी' आदि स्त्री आत्मकथाएँ भाषा के ऐसे खुले प्रयोग के कारण अश्लीलता के आरोप से विभूषित है।

लेखिकाओं पर दोषारोपण लगाया गया है कि वे यौनता पर लिख रही है। इस दृष्टि से इनकी भाषा को 'चीरफाड़ करनेवाली' भाषा बतायी गयी है जो भाषा के पुरुष वर्चस्ववादी स्वरुप को चुनौती देनेवाली है। स्त्री आत्मकथाओं में पति-पत्नी के बीच की यौन क्रीड़ाओं और प्रेमी के साथ होनेवाले यौन-व्यवहारों का भी खुली अभिव्यक्ति हुई है। आमतौर पर सेक्स और उससे जुडी शब्दों का स्त्रियों द्वारा प्रयोग करने से अश्लीलता की आरोप खाना पड़ता है। स्त्री आत्मकथाओं में विशेषकर रमणिका गुप्ता, मैत्रेयी पुष्पा, कृष्णा अग्निहोत्री, प्रभा खेतान आदि लेखिकाओं ने यौन संबन्धी शब्दों और वाक्यों को निडरता के साथ प्रयोग किया है। जैसे रमणिका गुप्ता ने भाभी और उनके बीच की समलैंगिक यौन-क्रीड़ाओं और अनुभूति को बिना कोई लज्जा से पाठकों के सामने रखा है-"भाभी ने धीरे-धीरे मुझे उत्तेजित करना शुरू किया और फिर मस्ती में मुझसे लिपट गयी। उन्होंने मुझे बेतहाशा चूमा। उन्होंने उँगलियों से मेरे भीतर प्रवेश किया। वक्ष को चूमा, मसला और अपनी योनि से मेरी योनि पर सतत दबाव डाला। मुझे पहली बार उस दिन पता चला कि औरत को भी आरगैज़म होता है। अब तक मैं केवल सुस्त, निश्चल शव की तरह पड़ी रहती थी, मैं ने संभोग में कोई भागीदारी कभी नहीं की थी।"[17] स्त्री के शारीरिक ज़रूरतों और गुप्तांगों के बारे में बार-बार कहते हुए रमणिका गुप्ताजी ने स्त्री-देह संबन्धी सारे मिथों को तोड़ने का प्रयास किया है। 'स्त्री- देह' संबन्धी ऐसी भाषा स्त्री लेखिकाओं के द्वारा चलाई गई क्रान्तीकारी कदम है। एक और संदर्भ में रमणिकाजी ने अपने पापाजी द्वारा अन्य स्त्रियों के साथ होनेवाली कामक्रीड़ाओं के प्रति पाठकों को अवगत कराने के लिए कामभावना की प्रतीति करानेवाले शब्द प्रयोग किया है-"वह सुई लगवा कर आती हूँ' कह कर पापा जी के कमरे में घूस जाती।

बाहर निकलती तो चोली बाँधती या घाघरी सम्भालती। उसका हिस्टीरिया और बांझपन दोनों खत्म हो गये। कभी-कभी पापाजी के कमरे से 'ऊंह-ऊंह' की आवाज़ आती तो मैं समझती शायद सुई न लगवाने के कारण पापा जी उसकी पिटाई कर रहे हैं या आप्रेशन कर रहे हैं।"[18]

मैत्रेयी पुष्पा जी ने अपने पति के साथ हुए प्रथम यौन संबन्ध को सीधे ढंग से प्रस्तुत करने के बदले भाषा में कुछ सौन्दर्यात्मकता या कलात्मकता का प्रयोग करके यों उद्‌घाटित किया है "मैत्रेयी को ऐसे दृश्य याद आए, जो उसकी स्मृतियों में घटित हो चुके थे और गाँव में लोकप्रिय काम कला के उदाहरण थे। कुछ न सोचा फिर, पिया को आनन्दलोक में खींच लिया। वे खींच भी आए, क्योंकि सचमुच आनन्द पा रहे थे। सारी पर्दादारियों से मुक्त होकर जो आदिम दृश्य बना, उसमें थल नहीं जल-ही-जल था। जल की तरंगें उलटी थीं। उलटी लहरों की बात ने बिसात पलट दी। श्रंखला की कड़ियाँ टूटीं। लहरों पर लहरें चली आईं। सिलसिला बीच में टूटे तो भँवर पड़ जाएगा, यह बात डॉक्टर ने भी समज ली।"

"वंडरफुल"! महारास के चरम के बाद डॉक्टर ने शबासी दी।"[19] यहाँ मैत्रेयी जी स्त्री-पुरुष के यौन संबन्धों में मौजूम परंपरागत पुरुष वर्चस्ववादी मान्यता को चुनौती देते हुए संभोग में पुरुष की भूमिका को खुद अपने हाथ में लेती है।

4.1.2.3 प्रतिरोध की भाषा

आत्मकथा के द्वारा लेखिकाओं ने अपने 'विलाप' को वाणी देने का कार्य किया है। उनका यह 'विलाप' स्त्री का पहला विद्रोह है। अपने घुटनभरी ज़िन्दगी से मुक्ति पाने के लिए स्त्री कलम की सहारा लेती है। स्त्री की आत्मकथा समाज द्वारा

उन पर होनेवाले अत्याचारों के विरुद्ध प्रतिरोध ही है। अपने प्रतिरोध को व्यक्त करने के लिए स्त्री आत्मकथाकारों द्वारा सशक्त और गंभीर भाषा का प्रयोग होता है, जिससे समाज आश्चर्यचकित हो जाता है। स्त्री लेखिकाओं के हर वाक्य और शब्द पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था के प्रति प्रतिरोध व्यक्त करने में सक्षम निकला है।

'सरला एक विधवा की आत्मजीवनी' में समाज में प्रचलित 'स्यापा' जैसी कुप्रथा के विरुद्ध लेखिका ने आवाज़ उठायी है। "जो प्रथा इतनी बुरी है, जिसके सुनते ही रोंगटे खडे हो जाते हैं उसे लोग तोड़ क्यों नहीं देते? क्या घरवालों में दया नहीं है या समाज की दृष्टि में वह अच्छा है?"[20] राजेन्द्र अवस्थी जी द्वारा कृष्णा अग्निहोत्री जी से संबन्ध स्थापित करने के लिए उनसे तलाक देने को कहा ताकि उनके मिलन में कोई बाधा खड़ा न हो जाये। उस संदर्भ में कृष्णा जी द्वारा प्रयोग करती भाषा उसके प्रति उनके प्रतिरोध को व्यक्त करने में सफल निकली है- "मैं रखैल बनकर कभी नहीं जी सकती और आवेश के क्षणों में सुख के लिए मेरी भावना से कोई भी खिलवाड़ करे वो मुझे अच्छा नहीं लगेगा।"[21] 'अन्य से अनन्या' में प्रभा खेतान ने 'पत्नीत्व' की अवधारणा को बहुत ही तीखी भाषा में चुनौती देने का प्रयास किया है- "मैं सधवा नहीं, क्योंकि मेरी शादी नहीं हुई, मैं विधवा नहीं... क्योंकि कोई दिवंगत पति नहीं, मैं कोठे पर बैठी हुई रंडी भी नहीं... क्योंकि मैं अपनी देह का व्यापार नहीं करती। मैं किसी पर निर्भर नहीं करती, स्वावलंबी हूँ, अपना भरण-पोषण खुद करती हूँ। स्वेच्छा से एक जीवन का वरण किया है।"[22] यहाँ स्वतंत्र अस्तित्व रखनेवाली स्त्री का समाज के प्रतिरोध की भाषा दृष्टव्य है। 'कस्तूरी कंडल बसै' में पति की मृत्यू पर कस्तूरी की माँ द्वारा 'रोने की रस्म' में

भाग लेने को मज़बूर किया तो कस्तूरी उसे एकदम रोकते हुए कहा “यह मेरे बस का नहीं है चाची, क्योंकि अब मैं अपनी ज़िन्दगी और बेटी की नन्ही जान को लेकर ही सोच पाती हूँ। मुझे लोग धिक्कार रहे हैं, जानती हूँ। धिक्कार किसे अच्छी लगती है? पर कैसे समझाऊँ कि मेरे सामने आनेवाले दिन बाध की तरह मूँह फाड़े ख़ड़े है। मैं आनेवाली घड़ियों से छुटकारा पाकर बच जाऊँगी? हर हाल में सामना करना होगा...।”[23] कुछ आत्मकथाओं में समाज के प्रति प्रतिरोध को दिखाने में व्यंग्यात्मक भाषा का भी प्रयोग किया है। कृष्णा अग्निहोत्रीजी ने विवाह के प्रति अपने नकारात्मक दृष्टिकोण को व्यक्त करने के लिए व्यंग्य भाषा का प्रयोग किया है- “बेटियों को पुरुष मांस उपलब्ध कराके दादा कन्यादान के बोझ से मुक्त हो गए।”[24] ‘गुड़िया भीतर गुड़िया’ में निरन्तर बेटियों को जन्म देनेवाली होने के कारण समाज की द्वारा उपहास की पात्र बनी मैत्रेयी ऐसा प्रतिरोध करती है “उन सबसे बदला लेने की बात सोचती रही हूँ, जिन्होंने इस धरती पर लड़कियों का जीवन मुहाल कर दिया। जिनके कारण मैं अपनी बच्चियों पर ध्यान न देकर सन्ताप में ख़ौलती रही। क्या ऐसी ही कंटीली घड़ी में सोचा था मैं ने, मैं अपनी बेटियों को ऐसा बनाऊँगी कि तुम अपने संकट में उन्हीं को याद करो। उन्हीं के हाथ में राहत पाओ।”[25] रमणिका गुप्ताजी ने भी कभी-कभी व्यंग्यात्मक रूप से प्रतिरोध करने की प्रवृत्ति दिखायी है। ‘ड़ादसे’ में वे कहती है “एक दिन एक सज्जन दनदनाते हुए मेरे कमरे में आए, फिर इधर-उधर ताक कर बड़े हितैषी बनकर धीमे से बोले- “सुना है आपके पति ने आपकी तलाक दे दिया है।”[26] इसका जवाब रमणिकाजी ने यों दिया है “जी हाँ! उन्होंने तलाक देते वक्त आप ही से शादी करने की राय दी थी, क्या आप तैयार है?”[27] सुशीला टाकभौरेजी जब पति द्वारा उसे मारने के लिए चप्पल उठाया तो क्रोध

से चीखते हुए बोली "तुम मुझे चप्पल से मारोगी? चप्पल से मारोगी....?"[28] उसी प्रकार वे समाज में व्याप्त जातिभेद के प्रति खुले-मन से विरोध प्रकट करती है-"इस दुखद घटना के साथ उपेक्षा, अपमान, तिरस्कार और बहिष्कार की हृदय विदारक वह घटना ऐसी थी कि हम जलती चिता के सामने खडे होकर प्रण करते, कसम खाते और सबके सामने यह ज़ाहिर करते- "हम ऐसे जातिवादी लोगों से बदला ज़रूर लेंगे।' बदला लेने की किसमें ऐसे ही अवसरों पर खाई जाती है।"[29] कौसल्या बैसंत्री ने भी 'दोहरा अभिशाप' में विरोध की भाषा को अपनाते हुए जातीय भेद-भाव के प्रति आक्रोश प्रकट किया है- "बाबा ने हेड मिस्ट्रेस के चरणों के पास अपना सिर झुकाया दूर से, क्योंकि वे अछूत थे, स्पर्श नहीं कर सकते थे। बाबा का चेहरा कितना मायूस लग रहा था उस वक्त! मेरी आँखें भर आई थीं। अब भी इस बात की याद आते ही बहुत व्यथित हो जाती हूँ। अपमान महसूस करती हूँ। जाति-पाँति बनानेवाले का मूँह नोचने का मन करता है। अपमान का बदला लेने का मन करता है।"[30] इस प्रकार भाषा में प्रतिरोधात्मक प्रयोग द्वारा लेखिकाओं ने अपने अन्दर के विद्रोह और आक्रोश को पाठकों के सम्मुख पेश करने का साहस दिखाया है।

4.1.2.4 प्रतीकात्मक भाषा

प्रतीक विधान पाश्चात्य साहित्य की देन है। इसे अंग्रेज़ी में 'symbol' कहते हैं। "प्रतीक का प्रयोग उस दृश्य वस्तू के लिए किया जाता है जो किसी अप्रस्तुत की समानता उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है।"[31] भाषा संप्रेषणीयता को

प्रभावात्मक बनाने में प्रतीकों की विशिष्ट भूमिका है। लेखक द्वारा प्रतीकों के प्रयोग से अपने-मनोविकारों को कम शब्दों में व्यक्त कर सकते हैं।

हिन्दी स्त्री आत्मकथाओं में अधिकांश लेखिकाओं ने प्रतीकों द्वारा अपनी जीवन घटनाओं के प्रस्तुतीकरण में सौन्दर्यात्मकता लाने का प्रयास किया है। प्रभा खेतान ने 'अन्या से अनन्या' में अपना जीवन कहानी को प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत करती है "राजा नील अपनी दुओरानी को वहाँ कलकत्ता छोड़ आए थे और सुओरानी साथ में थी, क्योंकि सुओरानी को अंग्रेज़ी बोलना आता था, क्योंकि सुओरानी कर्मठ थी, क्योंकि राजा नील को सुओरानी का साथ पसन्द था। दुओरानी के बच्चे भी दुओरानी के साथ वहीं रह गए थे। हमें कुछ नहीं चाहिए राजन, बस आप अपनी सेहत का ध्यान रखिएगा, आपकी ज़िन्दगी है तो हमारी ज़िन्दगी है।"[32] अतः यहाँ राजा नील, प्रभा खेतान के प्रेमी डॉ.सर्राफ है, और दुओरानी उनकी पत्नी और सुओरानी खुद प्रभा है। मैत्रेयी पुष्पा जी ने भी कहीं-कहीं प्रतीकात्मक ढंग से स्त्री जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डाला है। जैसे शादी के लिए मना करनेवाली कस्तूरी को उसकी भाभी द्वारा समझाने की कशिश करती है- "लाली, किताबों में क्या पढ़ती हो? उनमें यही लिखा है कि ज़िन्दगी अनब्याहे ही काट दो और बारी सिल की तरह भैया की छाती पर लदी रहो। यह कहीं नहीं लिखा कि बेटी धान का पौधा होती है, समय से दूसरी जगह रोप देना ही अच्छा होता है। बखत निकलता जाता है, पौधा मरने लगता है, जडें सूख जाती है। कड़ा पड़ता जाता है और उखाड़कर फेंक देना पड़ता है।"[33] यहाँ स्त्री को धान की पौधा के समान बताते हुए प्रसंग को कौतूहल बनाने की कोशिश की है। मैत्रेयी पुष्पा ने 'गुड़िया भीतर गुड़िया' में खुद को प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है "अपने लिए मेरी ही नकारात्मक

भूमिका है कि मैं चमगादड़ की तरह रहूँ। केंचुए की तरह रेंग-रेंगकर जीव काटूँ।"[34] स्त्री आत्मकथाकारों में विशेषकर दिनेश नंदिनी डालमिया, रमणिका गुप्ता, पद्मा सचदेव, चन्द्रकिरण सौनरेक्सा, मन्नू भंडारी आदि ने भी प्रतीकात्मक भाषा के ज़रिए जीवन परिस्थितियों को बहुत ही प्रभावात्मक बनाने का प्रयास किया है।

अधिकांश आत्मकथाओं के शीर्षक भी प्रतीकात्मक है। मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुण्डल बसै' आत्मकथा का शीर्षक प्रतीकात्मक है। शीर्षक का गूढार्थ है 'भीतर खोज' अतः 'स्व' की खोज है। इसमें मैत्रेयी पुष्पाजी ने अपनी माँ की ज़िन्दगी को प्रस्तुत करते हुए माँ और बेटी के बीच की वैचारिक समानताओं और भिन्नताओं का विश्लेषण करते हुए अपनी 'स्व' की तलाश करने का प्रयास किया है। मैत्रेयी अपने होने का अर्थ अपनी माँ कस्तूरी देवी के होने में तलाशती है, इसलिए यह उनकी आत्मकथा के होने के साथ-साथ उसकी माँ की आत्मकथा भी है। कस्तूरी कुण्डल बसै के अन्य अध्यायों का नाम भी कबीरदास के दोहों से लिया है, जो उक्त प्रसंगों के सार को व्यक्त करनेवाले है। पद्मा सचदेव की 'बूँद बावड़ी' भी प्रतीकात्मक शीर्षक है। संसार रूपी इस बावड़ी में पद्माजी का जीवन एक बूँद भर है। हर एक बूँद से ही बावड़ी भरती है। दोनों का अस्तित्व एक दूसरे पर निर्भर है। प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या' शीर्षक के दौरान लेखिका यह स्थापित करती है कि प्रेमी डॉ. सर्राफ के परिवार में वे 'अन्या' थी लेकिन सुदृढ़ आर्थिक आधार और स्वतंत्र अस्मिता ने उन्हें धीरे-धीरे 'अनन्या' बना दिया है। चन्द्रकिरण सौनरे की 'पिंजरी की मैना', 'घर' या पिंजरे में कैद पालतू चिडिया जैसे जीवन बिताने में विवश अपनी ज़िन्दगी की ओर इशारा किया है। सुशीला टाकभौरे जी की 'शिकंजे

का दर्द' भी स्त्री की दर्दभरी ज़िन्दगी को द्योतित करनेवाले है। शिकंजे का अर्थ दबाने, कसने का यंत्र है। सुशीलाजी के जीवन बचपन से लेकर युवावस्था तक अनेक प्रकार के शिकंजों में जकड़े हुए थे। ऐसे शिकंजें में पड़ी लेखिका की छटपटाहट है उसकी आत्मकथा।

4.1.2.5 मुहावरों का प्रयोग

'मुहावरे' ऐसे वाक्यांश है जो अपने साधारण अर्थ को छोडकर किसी विशेष अर्थ को द्योतित करते हैं। मुहावरे भाषा को सुदृढ़, सुन्दर और गतिशील बनाते है। स्त्री आत्मकथाओं में मुहावरों का प्रयोग बड़ी मात्रा में देखने को मिलता है। उन लेखिकाओं ने मुहावरों के द्वारा आत्मकथा की भाषा को आकर्षक बनाने का प्रयास किया है।

'हादसे' में रमणिका गुप्ता द्वारा प्रयुक्त मुहावरे है 'दाँत पीसना', 'आँखों में धूल झोंकना', 'अपना उल्लू सीधा करना' आदि। मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी' में 'राहत की साँस लेना', 'सब्र का बाँध टूटना', 'अमल करना', 'तबीयत खुश होना', 'दाँव पर लगना' आदि मुहावरों का प्रयोग देख सकते हैं। 'अन्या से अनन्या' में 'दम तोड देना', 'मूँह में दही जमाना', 'गर्मागर्मी पर आना', 'मूँह चुराना', 'कलेजा मूँह में आना', 'चेहरा काला पड़ना' आदि कई मुहावरों का उदाहरण मिल जाते हैं। 'शिकंजे का दर्द' में 'फूले नहीं समाना', 'आँखों में गुस्सा उतरना', 'नाक भौ सिकोडना', 'गिरगिट की तरह रंग बदलना' आदि मुहावरों के प्रयोग से भाषा में सौन्दर्यात्मकता लाने का प्रयास किया है। 'लगता नहीं है दिल मेरा' में 'तमतमाना', भय से पीला पड़ना, चहलकदमी करना, कनखियों से देखना,

भौंचक रहना, आदि कई मुहावरे आए हैं। कुसुम अंसल जी 'जी कहा नहीं गया' में 'आँखें मूँदना, 'गप्पे हाँकना', 'रौंगटे खडे होना', 'कुंडली मारकर बैठना' आदि मुहावरों का प्रयोग भी देखने को मिलता है। 'कस्तूरी कुण्डले बैसे' में प्रयुक्त मुहावरे हैं- 'नाक भौ सिकोडना', 'वजूद खून-खून होना', 'बिगुल बजाना', 'टकासा जवाब देना', 'रंग में भंग डालना', 'पाँवों के नीचे से जमीन खींचना', 'सकते में आना' आदि। 'गुडिया भीतर गुडिया में' भी ऐसे कई मुहावरों का उदाहरण मिलते हैं- 'रास न आना', 'हिम्मत पस्त होना', 'राम नाम सत कर देना', 'कोहराम मचना', 'मूँह के बल गिरना', 'कलेजा हिलोरना', 'सांस अटकना', 'आगा-पीछा भूल जाना', 'क्रोध का ओर छोर न रहना' आदि। सरला एक विधवा की आत्मजीवनी भी , चेहरा कुम्हला गया, खसकर हाथ जोड़ना, कलेजा छिद जाना आदि प्रसंगानुसार मुहावरों द्वारा भाषा में चमत्कार लाने में सफल निकली है।

4.1.2.6 कहावतों का प्रयोग

मन के भावों की अभिव्यक्ति को सशक्त और जीवन्त बनाने के लिए भाषा में कहावतों का प्रयोग ज़रुरी है। जिस पर भाषा की सजीवता और सुन्दरता निर्भर है। कहावतों के प्रयोग से निस्सन्देह ही भाषा सशक्त और आकर्षक बन जाती है।

स्त्री आत्मकथाओं में कहावतों का प्रयोग भाषा में जीवंतता लाने में सक्षम निकली है। 'सरला एक विधवा की आत्मजीवनी' में प्रयुक्त कहावतें हैं 'ऊँट का सुई के छदिर से निकलना', 'नौ दिल चलै अढ़ाई कोस' आदि। 'गुडिया भीतर गुडिया' में आई कहावतों के उदाहरण है-'हमारी बिल्ली हमसे म्याऊँ', 'नीम की निबौली

कडवी हुआ करती है', 'जहाँ चाह वहाँ राह', 'चुप रहना गुनाह कबूल करना होता है' आदि। 'कस्तूरी कुण्डल बसै' में आई कहावतों में कुछ है 'सब धान रुपये सत्ताइस सेर', 'सौ बातों की एक बात', 'बुढ़ापे में जवानी का सोक', 'आग पानी की तासीर होती है' आदि। कुसुम अंसल जी की 'जो कहा नहीं गया' में प्रयुक्त कहावतों में कुछ है 'भानुमति का पिटारा', 'उडी जहाज के पंछी पुनि जहाज पै आवे' आदि। रमणिका गुप्ता जी की 'हादसे' और 'आपहुदरी' में प्रयुक्त कहावतें हैं- 'भैंस के आगे बीन बजाना', 'ऐसे बिदके जैसे बिच्छू काटने पर बैल', 'ऐसे गायब हुए जैसे गधे के सिर के सींग', 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' आदि। प्रभा खेतान ने 'अन्या से अनन्या' में 'जल में रहकर मगरमच्छ से बैर', 'पौधा अपनी ही जमीन पर उगता है', 'चाँद को छूने की कल्पना करो तो खजूर के पेड़ तक तो पहूँचोगे', 'कम खा लेना पर बेईमानी मत करना', 'महाभारत का युद्ध छेड़ना' आदि कहावतों के प्रयोग से आत्मकथा को कलात्मकता से भर दिया।

4.1.2.7 अन्य भाषा-शब्दों का प्रयोग

अपने जीवन-यथार्थ की अभिव्यक्ति देने के लिए स्त्री आत्मकथाकारों ने हिन्दी के अलावा अन्य भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग किया है। स्त्री आत्मकथाओं में विशेष रूप से संस्कृत, उर्दु, अरबी, फारसी, पंजाबी और अंग्रेज़ी भाषाओं के शब्द देखने को मिलते हैं।

4.1.2.7.1 संस्कृत शब्द

हिन्दी भाषा से सबसे अधिक जुड़ी भाषा है संस्कृत। इसलिए स्त्री आत्मकथाओं में संस्कृत शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। मन्नु भंडारी ने 'एक

कहानी यह भी' में अधिक मात्रा में संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया है। जैसे 'अनिवार्य', 'यश', 'आत्म-स्वीकृति', 'आत्म-तोष', 'समर्पण', 'संकल्प', 'अंत' आदि। सरला एक विधवा की आत्मजीवनी में भी संस्कृत शब्दों का प्रयोग है- प्रातःकाल, कुलक्षिनी, किन्तु, मस्तिष्क, वर्ष आदि। 'पिंजरे की मैना' में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा जी ने ऐसे कई संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया है- 'किंतु', 'परन्तु', 'मर्यादा', 'शील' आदि।

4.1.2.7.2 उर्दु, फारसी, अरबी शब्दों का प्रयोग

हिन्दी भाषा से मिली-जुली भाषाएँ है उर्दु, फारसी और अरबी भाषा। हिन्दी साहित्य में इन भाषाओं का ढेरों प्रयोग हुए है। स्त्री आत्मकथा भी इनसे अछूता नहीं। जैसे 'दोहरा अभिशाप' में आई अन्य भाषा शब्द है 'कद्र', 'दिक्कत', 'मुफ्त', 'करीब', 'अहमियत', 'दफ्तर' आदि। 'अन्या से अनन्या' में आई शब्द- 'कायर', 'होश', 'खतम', नाजायज, कब्र, कबूल, फर्माइश, परहेज आदि। 'हादसे' में आई शब्द है 'तरकीब', 'सफेद', 'मज़दूर', 'नुक्सान', 'बर्दाश्त' आदि। 'शिकंजे के दर्द' में प्रयुक्त शब्द है- 'रफतार', 'खानदान', 'शहीद', 'खुदा', 'तकलीफ', 'इल्जाम' आदि।

4.1.2.7.3 मराठी और पंजाबी भाषा के शब्द

कौसल्या बैसंत्री जी की मातृभाषा मराठी होने के कारण उनकी आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में मराठी शब्दों का यत्र-तत्र प्रयोग देखने को मिलता है- 'आजोबा', 'चौरंग', 'उरकुड़ी', 'आत्या' आदि।

रमणिका गुप्ता जी की दोनों आत्मकथाओं 'हादसे', और 'आपहुदरी' में पंजाबी भाषा का प्रयोग किया है। 'पंजाब' के जाट परिवार में जन्म होनेवाली रमणिका गुप्ता जी ने आत्मकथाओं में 'पंजाबी' संस्कृति से जुड़ी शब्दों का ही प्रयोग किया है। जैसे 'आपहुदरी' शब्द आत्मकथा का शीर्षक है, जिसका अर्थ है 'स्वेच्छाचारी' पंजाबी में इसका पर्यायवाची शब्द है 'आपहुदरी'। उसी प्रकार 'माँ' को 'बेबे', 'बीबीजी' आदि शब्दों से संबोधित करते थे। अन्य शब्द है 'कनफुसकियाँ', भापों, खुदमुख्तार, चेंगना, आदि। कभी-कभी रमणिकाजी ने शब्दों के अर्थ को समझने के लिए 'फूटनोट' भी देने का कार्य किया है। जैसे 'कच्ची टूटी' शब्द का अर्थ फूटनोट में यों दिया है "कची टूटी : मासिक धर्म से पहले कम उम्र में सहवास कर चुकी लडकी को कच्ची टूटी कहते हैं।"[35]

4.1.2.7.4 अंग्रेज़ी शब्द

स्त्री आत्मकथाओं में लेखिकाओं ने कहीं-कहीं अंग्रेज़ी शब्दों का भी प्रयोग किया है। 'दोहरा अभिशाप में आये अंग्रेज़ी शब्द है- 'पेंशन, कोर्टकेस, लाईन, मार्केट, हॉस्टल, स्कौलरशिप, टिफिन 'अन्या से अनन्य' में प्रयुक्त अंग्रेज़ी शब्द है- 'चेकअप, डौलर, एक्सपोर्ट, डायनामिक, ब्यूटिथेरापी, ब्लीडिंग, पर्स। 'एक कहानी यह भी' में आए शब्द है- डिक्टेशन, कल्वर, रिव्यूज़, कलइमाक्स, एपीसोड आदि। 'लगता नहीं है दिल मेरा' में कृष्णा अग्निहोत्री जी ने भी अंग्रेज़ी शब्दों को बड़ी मात्रा में प्रयोग किया है। जिसमें आए अंग्रेज़ी शब्द है 'स्टेज, पैकेट, मिडिल, कल्ब, यूनियन, लोकल, सिनेमा, कान्फिडेशल' आदि।

4.1.2.7.5 ग्रामीण और दलित संस्कृति से जुडे शब्द

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा 'कस्तूरी कुण्डस बसै' में सिर्कुरा गाँव की ग्रामीण भाषा का प्रयोग अधिक हुआ है। कस्तूरी की माँ और गाँववालों के संवाद इसका प्रमाण है। कस्तूरी की माँ का कथन है "हाय बेटा! तू कैसा असगुन सोच रही है! तू सती क्यों होगी? सौ-सौ बरस जिए तेरा सुहाग! तू काए को मरेगी, मरें तेरे बैरी।"[36] प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या' में भी कहीं-कहीं उनकी माँ और दादी द्वारा मारवाड़ी संस्कृति से जुडी भाषा और बंगली भाषा का प्रयोग देख्र सकते हैं। दादी माँ का कहना है "अरे मोर बिटिया, एतना लोगन के बीच कई से तोहके ले जाई? बहूजी तो हमके चीरकर रख्र देईहँ। तनिक धीरज धर बिटिया। तोहर ताईजी अउर बुआजी के जाते ही हम तोहके छत पर ले जाऊब।"[37] हिन्दी की दलित स्त्री आत्मकथाओं में दलित संस्कृति से जुड़ी भाषा और शब्दों का प्रयोग देख्र सकते हैं। समाज के निम्न स्तर पर जीनेवाले दलति लोगों के जीवन और भाषा उतनी सुसंस्कृत और सुधरी हुई नहीं है।

'कौसल्या बैसंत्री' जी की आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में दलित समाज और संस्कृति से जुडे शब्दों का प्रयोग है। जैसे 'उरकुड़ी'- इसका मतलब है 'कूड़े का ढेर'। हमेशा गरीबी और अभाव में जीने के लिए विवश दलितों की आपबीती में अभावग्रस्त ज़िन्दगी से जुडी शब्द ही देख्रने को मिलती है- जैसे 'पाख्राना साफ करना', 'टट्टी पेशाब', 'बस्ती', गुदडी' आदि। यह भी नहीं अस्पृश्य समाज में 'विधवा विवाह' के लिए प्रयुक्त शब्द है 'पाट'। सुशीला टाकभौरे जी की आत्मकथा 'शिकेजे का ददे' में भी दलित संस्कृति से जुडे शब्दों का प्रयोग देख्रने को मिलता

है। जैसे जाति सूचक शब्द 'भंगी', 'चमार' और अन्य शब्द है 'चिरैया' आदि। कभी-कभी बानापुरा गाँव की ग्रामीण भाषा का भी प्रयोग हुआ है। जैसे गाँव के बुजुर्गों की भाषा है "लड़कियाँ चूल्हे का लूगड़ा (जलती लकड़ी) हैं। जहाँ का लूगड़ा वहीं जले तो अच्छा है।"[38]

4.1.3 स्त्री आत्मकथा की शैली

आजकल शैली शब्द अंग्रेज़ी के 'स्टाइल' शब्द के पर्याय के रूप में प्रयुक्त है। अभिव्यक्तिगत वैशिष्ट्य या लिखने के ढंग के अर्थ में इसका प्रयोग किया जाता है। लेखक के व्यक्तित्व का एक सहज गुण है 'शैली', जिससे उनके व्यक्तित्व की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति देखी जा सकती है। गेथे ने शैली की परिभाषा यों दिया है "शैली रचना का वह उच्च और सक्रिय सिद्धान्त है जिसके द्वारा लेखक अपने विषय की गहराई में उतरकर विषय के अन्तस का उद्घाटन करता है।"[39] शैली के द्वारा लेखक अपने मन की बात को एक विशेष आकृति प्रदान करता है। अतः शैली भाषा की एक ऐसी विशेषता है जो किसी के भाव अथवा विचार को ठीक-ठाक व्यक्त करती है।

स्त्री आत्मकथाकारों ने नित-नयी शैलियों के प्रयोग के साथ-साथ प्रचलित परंपरागत शैलियों को भी अपनाकर अपने व्यैक्तिक जीवन को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है।

4.1.3.1 वर्णनात्मक शैली

वर्णनात्मक शैली को व्याख्यात्मक शैली या इतिवृत्तात्मक शैली भी कहते हैं। जिसमें लेखक एक तटस्थ दृष्टा की भाँति जीवन घटनाओं का वर्णन करते हैं। इस

शैली में लेखक की अपनी पूरी बात कहने की छूट मिलती है और जीवन कथा को प्रस्तुत करते समय लेखिका का व्यक्तित्व अलग से उभरने लगता है। स्त्री आत्मकथाओं में वर्णनात्मक शैली का सुन्दर प्रयोग देखने को मिलता है, जिससे आत्मकथाएँ बहुत ही रोचक बन पड़ी है।

कुसुम अंसल जी ने अपनी आत्मकथा 'जो कहा नहीं गया' में खास तौर पर वर्णनात्मक शैली के दौरान बातों को रोचक बनाने का प्रयास किया है। जब वह प्रथम बार मुंबई गई तो वहाँ के वातावरण ने उन्हें बहुत ही प्रभावित किया। उनके अपने शब्दों में "बंबई शहर का एक तिलस्मी-सा सपना मेरे अंदर सपनीला जाल बिछाने लगा, समुद्र को देख पाने की ललक, सिनेमा के अभिनेता, अभिनेत्रियों को देख पाने के अनेक चित्र मन में हिचकोले ले रहे थे। रेल में मैं मात्र सपने देख रही थी और पापा कोई बड़ी गंभीर पुस्तक पढ़ रहे थे। अचानक मुझे सुनाने लगे, शापेनहावर एक सुबह कोई तीन बजे होंगे, एक छोटे से बगीचे में गया, घूमने लगा, पर रात थी और अंधेरा भी था।"[40] दिनेश नंदिनी डालमिया जी ने अपनी आत्मकथा 'मुझे माफ करना' में कभी किसी व्यक्ति, गाँव, या घटना को बहुत ही वर्णनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है-"देश का वह पिछड़ा हुआ गाँव। गाँव के बीच लाल पत्थरों से बनी हुई राजभरी हवेली, उस हवेली के एकांत अंधकार की गोद में बैठी हुई वह छोटी-सी कोठरी, मीठे तेल के जलते हुए दीपक के टिमटिमाते हुए प्रकाश में मेरा जन्म हुआ था।"[41] 'कस्तूरी कुण्डल बसै' वर्णनात्मक शैली से ही आगे बढ़ती है। इसमें मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी माँ कस्तूरी की शादी के बाद मायके से विदा हो आई लड़की का वर्णन यों दिया है "नई ब्याही दुल्हन चमकीले रथ में बैठकर अपनी जन्मभूमि से विदा हो आई। यह दूसरी धरती, ससुराल का गाँव कैसा है, घूँघट की

लंबी झूल में से कैसे दिखे? वर को देखे तो शायद पहचान न पाए। संसार का यह अन्धकार उसे ब्याह स्वरुप मिला है। हवा और धूप के लिए आत्मा भटकने लगी।"[42] 'बूँद बावड़ी' में पद्मा सचदेव ने वर्णनात्मकता का प्रयोग किया है- "इस समुद्री जहाज से सटी चारपाई के पीछे संरक्षक की तरह खडे थे महान दार्शनिक जे.कृष्णमूर्ति- साधु पुरुष, सौम्य, शालीन, अडिग- पर उनकी बावड़ी की तरह गहरी आँखों में चिंता हिलोरें ले रही थी। पूरे माहौल का जायजा लेते हुए वो कुछ सोच रहे-से लगते थे।"[43] इस प्रकार सभी स्त्री आत्मकथाओं में लेखिकाएँ बडी कुशलता से वर्णनात्मक शैली का प्रयोग करते हुए उन में रोचकता लाई है।

4.1.3.2 विश्लेषणात्मक शैली

विश्लेषणात्मक शैली के अन्तर्गत लेखक वस्तु-स्थितियों और चरित्रों का विश्लेषण करते हुए आगे बढ़ती है। आत्मकथा में विश्लेषणात्मक शैली की महत्वपूर्ण भूमिका है।

स्त्री आत्मकथाओं में लेखिकाओं ने कहीं-कहीं अपने चरित्र विश्लेषण के साथ-साथ अपने संपर्क में आए अन्य चरित्रों का भी विश्लेषण करने की प्रवृत्ति भी अपनायी है साथ ही साथ विभिन्न समस्याओं का भी बारीकी से विश्लेषण करने का प्रयास किया है। मन्नू भंडारी ने अपने पति राजेन्द्र के व्यक्तित्व का विश्लेषण यों किया है "वास्तव में राजेन्द्र के प्यार और अंतरंगता की सीमा में कोई हो भी नहीं सकता। सिवाय खुद राजेन्द्र के क्योंकि किसी को भी प्यार की सीमा में लेते ही अधिकार की बात आ जाती है, जौ राजेन्द्र किसी को दे नहीं सकते.... समर्पण की बात आ जाती है, जो राजेन्द्र कर नहीं सकते।"[44] मैत्रेयी पुष्पा ने 'गुडिया भीतर गुडिया' में

विश्लेषणात्मक शैली का सुन्दर प्रयोग किया है-"मेरी जैसी शरणागत स्त्रियाँ शिकार ही होती है, क्योंकि मालिक से वफादारी करते हुए अपनी अन्दरूनी भावनाएँ छिपाना भी गुनाह समझती हैं। लिखते हुए मैं सोचती हूँ, सामन्ती व्यवस्था से लड़ना है, मगर क्या इस स्वामिभक्ति और सदिच्छा के हथियारों से लड़ा जा सकता है? लड़ा जा सकता होता तो डॉ. साहब के मन में मेरे व्यवहार में से बारूद निकाल-निकालकर बम न बन रहे होते कि उनका विस्फोट ऐन उस समय हो, जब मेरा आत्मविश्वास जुड़ने लगे।"[45]

4.1.3.3 चित्रात्मक शैली

रचनाकार अपनी संवेदना को तिव्रता प्रदान करने केलिए चित्रात्मक शैली का प्रयोग किया जाता है। आत्मकथा साहित्य में भी चित्रात्मकता को महत्वपूर्ण माना गया है। स्त्री आत्मकथाकारों ने अपनी जीवन घटनाओं को चित्रात्मकता के साथ प्रस्तुत करने का कार्य किया है, जिससे पाठकों को लगता है कि पूरी घटनाएँ अपनी आखों के सामने घटी हों।

पद्मा सचदेव ने 'बूँद बावड़ी' में चित्रात्मक शैली का कई प्रसंगों पर प्रयोग किया है- "इसी आसमान पर एक बहुत बड़ा समुद्री जहाज न जाने कैसे संतुलन बनाए खड़ा था। निश्चल, अचल, अडोल, सिलपत्थर-सा, इसी फीके बदरंग आसमान के एक हिस्से की तरह। न ही जहाज के डैक पर कोई था, न ही किसी खिड़की के पल्ले से लहराता कोई आंचल, न ही रेलिंग से झुककर समुद्र को निहारता कोई चेहरा, न ही शोर, न ही धुआँ। सभी कुछ ठहरा हुआ, उदास, भयाक्रांत।"[46] सुशीला टाकभौरे जी ने 'शिकंजे का दर्द' में चित्रात्मक भाषा को छोडा

नहीं है। शिक्षा के क्षेत्र में फैले छुआछूत की भावना का चित्र लेखिका के उस कथन से व्यक्त होता है "मैं कक्षा में सबसे पीछे बैठती थी। स्कूल के सभी शिक्षक और सभी बच्चे मेरी जाति के विषय में जानते थे। सबके मन में मेरे लिए एक निश्चित दूरी थी। मैं नहाकर, साफ-सुथरे कपड़े पहनकर स्कूल जाती फिर भी स्कूल के बच्चों, अध्यापकों और चपरासी के लिए अछूत ही थी। मुझे छू जाने पर वे नहाकर शुद्ध होते हैं, यह बात मैं जानती थी।"[47] कुसुम अंसल जी ने आज की युवा पीढ़ी द्वारा अपने बूढे माँ-बाप के प्रति कैसे व्यवहार करते है इसको संवेदनशील और चित्रात्मक ढंग से यों प्रस्तुत किया है- "लंदन से बाहर उनकी खूबसूरत सी काटेज थी, बड़ी सी गाड़ी थी- शाम के वक्त पर घर पहूँचे तो चाय-समोसे गृहणी के पाकशास्त्र की तारीफ के साथ परसे गये। बाथरूम जाते समय भीतर गई तो मुझे अचम्भित रह जाना पड़ा, बेहद कमज़ोर बूढे मौसाजी एक कमरे में बैठे खाना खा रहे थे-मोटी-मोटी रोटियाँ और कटोरा भरी दाल, बस.... मैं ने जाकर पाँव छुए तो अपने में सिकुड़ते आशीर्वाद देते उनके चेहरे पर अपनापन बहुत से दुख से पगा फैल आया।"[48]

4.1.3.4 पूर्वदीप्ति शैली

पूर्वदीप्ति शैली को अंग्रेज़ी में 'फ्लैशबैक शैली' कहते हैं। जिसमें कथा अतीतोन्मुख रहती है। आत्मकथा भी एक अतीतोन्मुख रचना होने के कारण इसमें पूर्वदीप्ति शैली का आमतौर पर प्रयोग देखने को मिलता है। इसमें वर्तमान कथा संदर्भ को अतीत की किसी घटना सूत्र से आकस्मात् ही जोड़ दिया जाता है, जो कथानक में गतिशीलता प्रदान करती हैं।

प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या' पूर्वदीप्ति शैली में लिखी हुई आत्मकथा है। आत्मकथा की शुरुआत ही उन्होंने अपने बचपन से शुरु न करके, अमेरिका में डॉक्टर सर्राफ के साथ की यात्रा से शुरु की जाती है। वहाँ से लेखिका अपने भूतकाल के बारे में सोचती है और लिखती है "पता नहीं क्यों आज इतने वर्षों बाद, यहाँ सीढ़ियाँ पर बैठी मैं अपनी स्मृतियों को टटोल रही हूँ।"[49] कुसुम अंसल जी ने 'जो कहा नहीं गया' में अपनी हवेली की आज की स्थिति या रुप को बताने के लिए उस घर की पूर्व रुप को प्रस्तुत करके आज के सन्दर्भ में उसकी तुलना करके बताया है "साकेत को अब हवेली कहने का जी नहीं चाहता, पहले वह अवश्य एक नवाबी ठाठ से अकड़ी खडी थी। मुझे याद है उसकी छत के हर कोने पर कंगूरेदार बुर्जियाँ थी और उसके वरांडे पर मेहराबदार कटाव थे। बाहरवाली सभी खिड़कियों और रोशनदानों पर भी एक बेलबूटेदार छज्जा जैसा था। तब साकेत का सारा परिवेश लाल ईंटों का था- एक तेजस्विता से दहकता हुआ।"[50] अधिकांश स्त्री आत्मकथाओं में फलैशबैक शैली का प्रयोग देख सकते हैं।

4.1.3.5 संवादात्मक शैली

आत्मकथाकार अपनी जीवन घटनाओं की प्रभावात्मक अभिव्यक्ति के लिए या चरित्रों के उद्‌घाटन के लिए कभी-कभी संवादों का सहारा लेता है। 'सरला: एक विधवा की आत्मजीवनी' में संवाद शैली का प्रयोग देख सकते हैं। प्रस्तुत आत्मकथा सरला और उसके भाई मोहन के संवाद से आगे बढ़ती है। मोहन की पत्नी लाड़ली की मृत्यू और स्त्री की मृत्यू पर शोक न मचानेवाले सामाजिक मानसिकता के प्रति सरला और मोहन के बीच हुए संवाद से कथा सूत्र का विकास होता है।

“सरला ने मोहन से पूछा “ कहो मोहन, लाड़ली के लिए तुम्हें भी कुछ दुःख है या नहीं? तुम्हारे मुख पर तो विषाद का चिह्न दिखाई नहीं देता।”

मो - “दुःख किस बात का?”

मैं - “नहीं ! सच कहो क्या तुम्हें तनिक भी दुःख नहीं है , तुम्हें लाड़ली के लिए दुःख नहीं, उसकी याद भी नहीं आती?”

मो - “कैसी बातें करती हो? मुझे दुःख किस बात का? किसी भी मनुष्य की मृत्यू से जो साधारण भावचित्त में उत्पन्न हुआ करता है वैसा ही हुआ। दुःख- वुख कैसा?”

मैं - “क्या साधारण जीवधारी की मृत्यू और लाड़ली की मृत्यू में कोई अंतर नहीं और न तुम्हें कोई विशेष दुःख का कारण ही दिखाई देता है?”[51]

4.1.3.6 ऐतिहासिक शैली

आत्मकथा एक ऐतिहासिक विधा है जिसमें एक व्यक्ति के इतिहास के साथ-साथ समाज का इतिहास भी प्रस्तुत हो जाती है। स्त्री लेखिकाओं ने भी अपनी आत्मकथाओं में अपने जीवन कथा को पुनसृजित करते समय तत्कालीन युग के सामाजिक और राजनीतिक परिवेश को भी भलीभाँति दर्शाया गया है।

मन्नू भंडारी ने ‘एक कहानी यह भी’ में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की अभिव्यक्ति देने के लिए ऐतिहासिक शैली का प्रयोग किया है। उनकी आत्मकथा

में 'आपातकालीन परिस्थितियों, इंधिरागाँधी का पराजय, जनता पार्टी का सत्तासीन होना, देश-विभाजन, सिख्क विरोधी दंगे आदि पर प्रकाश डाला गया है। "सारी विरोधी पार्टियाँ एक स्वर में इंधिरा गाँधी से इस्तीफे की माँग करने लगीं। यह माँग और ज़ोर पकड़ेगी इसका अनुमान लगाकर संजय के सुझाव पर इन्दिरा गाँधी ने 25 और 26 जून के बीच की रात को जयप्रकाश नारायण, मोरारजी देसाई, चन्द्रशेखर, अटलबिहारी वाजपेयी जैसे दिग्गज नेताओं के साथ-साथ विरोधी दल के न जाने कितने नेताओं और सदस्यों को गिरफ़तार कर लिया और 26 जून को सवेरे ही आपातकाल की घोषणा कर दी।"[52] प्रभा खेतान भी सामाजिक परिवेश से अपने को अलग नहीं कर सकी जिन्होंने 'अन्या से अनन्या' में सन् 1966 से 1990 तक के कालखंड में मारवाड़ी समाज में होनेवाले संघर्षों और परिवर्तनों पर सूक्ष्म से दृष्टि डाली है, साथ ही साथ कलकत्ते में हुए नक्सल आन्दोलनों और उसके बाद की भीषण स्थितियों का भी पर्दाफाश किया है-"सिद्धार्थ शंकर राय की सरकार (1972-77) ने दमन, उत्पीड़न और जेलभरो चक्र चलाया। रात दिन कलकत्ते की सड़कों पर पिशाच लीला चलती रहती और लोग घरों में दुबककर आँखों ही आँखों में रात बिताते। भय से कॉपते रहते कि न जाने कल क्या होगा।"[53] रमणिका गुप्ता की 'हादसे' और 'आपहुदरी' मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कंडल बसै', कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा', चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की 'पिंजरे की मैना', सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द' आदि आत्मकथाओं ने भी सामाजिक और राजनीतिक इतिहास को उजागर करते हुए यह स्थापित करने का प्रयास किया है कि आत्मकथा सिर्फ वैयक्तिक अनुभवों का लेखा-जोखा नहीं बल्कि सामाजिक इतिहास का प्रामाणिक दस्तावेज़ भी है।

4.1.3.7 फान्टसी का प्रयोग

'फान्टसी' का हिन्दी पर्यायवाची शब्द 'स्वप्न चित्र' है। जिसमें असंभाव्य घटनाओं पर अधिक बल दिया जाता है। 'सरला: एक विधवा की आत्मजीवनी' के अन्त में फान्टसी शैली का प्रयोग किया है। आत्मकथा का अन्त सरला के द्वारा देखा गया एक स्वप्न से होता है, जिसमें स्वर्ग में सरला, लाड़ली से मिलती है और वे ऐसे स्वर्ग में रहते है वहाँ स्त्री और पुरुष में कोई भेद नहीं है, वहाँ कोई किसी के अधीन नहीं हैं। 'बूँद बावडी' में भी पद्म सचदेव ने स्वप्न शैली का प्रयोग किया है। मृत्यू की कल्पना करती रहनेवाली पद्माजी अक्सर स्वप्नों से गुजरी थी। सपने में उसकी स्वर्गीय सास उसके सामने आकर उसके हाथ पकडते है और बाद में उन दोनों के बीच संवाद भी होते है- "रोते-रोते ही मैं ने उनसे पूछा- मैंने क्या किया है बीजी! मैं यहाँ क्यूँ हूँ। वो मूँह से कुछ न बोली, पर उन्होंने मुझे सान्त्वना देते हुए प्यार से अपने गर्दन हिलाई। मैं समझ गयी। उनका कहना था-

नहीं, तुमने कोई अपराध नहीं किया।

मैं ने फिर पूछा था-मेरी बेटी मीता कैसी है?

उन्होंने बिना बोले ही कहा-ठीक है, चिन्ता न करो।"[54]

4.1.3.8 आत्मकथा में अन्य विधाओं की शैलियों का प्रयोग

साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति आत्मकथा में कलात्मकता और सौन्दर्यात्मकता लाने के लिए कल्पना का प्रयोग नहीं कर सकती क्योंकि उसमें व्यक्ति के जीवन की प्रामाणिक अभिव्यक्ति ही प्रमुख है। कल्पना विहीन होने के कारण या जीवन घटनाओं का सीधे ढंग से वर्णन मात्र होने से कभी-कभी पाठक ऊब जाते हैं।

अतः आत्मकथा को पठनीय और कलात्मक बनाने के लिए आत्मकथाकारों द्वारा कभी-कभी कुछ सन्दर्भों में विभिन्न विधाओं की शैलियों का भी प्रयोग किया जाता है।

स्त्री आत्मकथाओं में मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुण्डल बसै' में औपन्यासिक शैली का प्रयोग देख सकते हैं। प्रस्तुत आत्मकथा चार पीढ़ियों- कस्तूरी की माँ, कस्तूरी, उसकी बेटी मैत्रेयी, और मैत्रेयी की बेटी को अपने कैनवास में समेटती है। लेखिका ने आत्मकथा को उत्तम पुरुष 'मैं' में न लिखकर अन्य पुरुष में लिखा है, जिससे आत्मकथा में एक तरह से औपन्यासिकता आ जाती है। जैसे "मैत्रेयी अब कुछ नहीं कहना चाहती, कुछ नहीं पूछना चाहती। उसे मालूम हो गया कि सुई के कसकने और निकलने की समस्या कहीं नहीं, मुख्य मुद्दा ते मुख्यमंत्री के इर्द-गिर्द। इसमें मैत्रेयी का क्या दखल? वह माँ को राय नहीं दे सकती।"[55]

आत्मकथा को प्रामाणिक और विश्वसनीय बनाने की दृष्टि से मैत्रेयी जी ने पत्र-शैली का भी प्रयोग किया है। शादी के पहले अपने होनेवाले पति और उसके बीच पत्र व्यवहार चलता था। उन पत्रों को वहीं का वहीं प्रस्तुत किया है। आत्मकथा में सजीवता लाने के लिए बीच-बीच में गीत और कविताओं को भी प्रस्तुत किया है। मैत्रेयी की शादी के सन्दर्भ में गाँव की स्त्रियों द्वारा गाये गीत से ग्रामीण संस्कृति झलकती हैं।

"लंबे केस परे री कन्धे पर उतर लगए चली आ प्यारी
ऐसौ अतर लगइयो मेरी प्यारी, छाती जरै तेरे दुसमन की
परे ते आय रह्यो मलिया कौ लड़िका, बात बताया छोरा बागन की

....

....

बाग में देखै मलिया कौ लड़िका, ताल वै धूबिया की नजर परै

बीच खेत में आ जा रे रसिया, परदेदारी अरहरन की।"[56]

निष्कर्ष

भाषा के माध्यम से ही अभिव्यक्ति संभव हो जाती है। हर व्यक्ति में अभिव्यक्ति की इच्छा का होना स्वाभाविक है। साहित्य के क्षेत्र में फैली लिंगाधिष्ठित व्यवस्था को स्त्री आज अपनी लेखनी के द्वारा चुनौती दे रही है। सदियों से पुरुष वर्चस्व के चंगुल में फलते-फूलते साहित्य में अब स्त्री भी अपनी भागदारी दर्ज कर रही है। कर्ता की भूमिका निभाती स्त्री जब अपनी संवेदनाओं, और अनकहे जीवन यथार्थों को वाणी देने लगी तो भाषा की कमी महसूस होने लगी अतः उन्हें अपनी संवेदनाओं को पुरुष भाषा में प्रस्तुत करनी पड़ी। पुरुष भाषा में स्त्री संवेदनाओं की अभिव्यक्ति पूर्ण रूप से नहीं हो पाती तो स्त्री अपनी एक अलग भाषा की खोज करने लगी जिससे स्त्री अस्मिता की पूर्ण पहचान संभव हो सकें।

स्त्री आत्मकथाकारों ने 'स्त्री की भाषा' जैसी नई संकल्पना को अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से साकार करने की कोशिश की है। उत्तम पुरुष एकवचन में लिखी आत्मकथाओं में स्त्री संवेदनाओं की सूक्ष्म अभिव्यक्ति का होना स्वाभाविक है। अपनी अंतर्संवेदनाओं को स्त्री आत्मकथाकारों ने बहुत ही संवेदशील भाषा में प्रस्तुत किया है। भाषा के क्षेत्र में मौजूद पुरुषवर्चस्व को तोड़ने की प्रवृत्ति स्त्री भाषा की अपनी खासियत है। इस प्रवृत्ति के कारण स्त्री की भाषा को 'चीरफाड़ करनेवाली' भाषा भी कहा जाता है। स्त्री संवेदना के नए रूप ने भाषा के परंपरागत रूढ़ रूप को

बदलने की जोखिम उठाया है। स्त्री आत्मकथाओं में अधिकांश लेखिकाएँ स्त्री जीवन की अब तक के छिपे रहस्य को सार्वजनिक कर दिया। स्त्री की अपनी संवेदनाएँ जैसे मातृत्व की अनुभूति, सेक्स की अनुभूति, मासिक धर्म से जुड़ी बातें, प्रेम और यौंन क्रीड़ाओं की खुली अभिव्यक्ति आत्मकथाओं में हुई है। ऐसी खुली अभिव्यक्ति के लिए स्त्री द्वारा प्रतिरोधात्मक भाषा को अपनाया है। अतः स्त्री आत्मकथाओं में लेखिकाएँ भाषा के पूर्वनिर्धारित सारे बंधनों को तोड़कर भाषा को रूढ़ीमुक्त और स्वच्छन्द बनाने में सफल निकली हैं। नये-नये भाषा प्रयोगों के साथ-साथ स्त्री आत्मकथाओं में परंपरागत भाषिक शैलियों का भी प्रयोग हुआ है, जो आत्मकथा के भाषिक सौन्दर्य को बढ़ाने में सार्थक सिद्ध हुए हैं।

संदर्भ सूची

1. राजेन्द्र यादव- आदमी की निगाह में औरत, पृ.253
2. डॉ. प्रमीला. के.पी- स्त्री अध्ययन की बुनियाद, पृ.142
3. https://m-hindi.webdunia.com
4. डॉ. प्रमीला. के.पी- स्त्री अध्ययन की बुनियाद, पृ.110
5. सुशीला राय- एक अनपढ़ कहानी, पृ.7
6. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ.31
7. रमणिका गुप्ता- आपहुदरी, पृ.78
8. मैत्रेयी पुष्पा- कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ.307
9. वही, पृ.314
10. सुशीला टाकभौरे- शिंकजे का दर्द, पृ.162
11. वही, पृ.41
12. रमणिका गुप्ता- आपहुदरी, पृ.214
13. वहीं, पृ.191, 192
14. वही, पृ.37
15. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी- रचना के प्रकार, पृ.95
16. रमणिका गुप्ता- स्त्री मुक्तिः संघर्ष और इतिहास, पृ. 67
17. रमणिका गुप्ता- आपहुदरी, पृ.216
18. वही, पृ. 79

19. मैत्रेयी पुष्पा- कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ. 250

20. प्रज्ञा पाठक- सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी, पृ. 73

21. कृष्णा अग्निहोत्री- लगता नहीं है दिल मेरा, पृ. 187

22. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ. 12

23. मैत्रेयी पुष्पा- कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ. 26

24. कृष्णा अग्निहोत्री- लगता नहीं है दिल मेरा, पृ. 25

25. मैत्रेयी पुष्पा- गुड़िया भीतर गुड़िया, पृ. 122

26. रमणिका गुप्ता- हादसे, पृ.267

27. वही, पृ.267

28. सुशीला टाकभौरे- शिकंजे का दर्द, पृ.223

29. वही, पृ.173

30. कौसल्या बैसंत्री- दोहरा अभिशाप, पृ.47

31. डॉ. सुधा.बी- हिन्दी कथा साहित्य में रूढ़िमुक्त स्त्री, पृ.84

32. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ. 5

33. मैत्रेयी पुष्पा- कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ. 16

34. मैत्रेयी पुष्पा- गुड़िया भीतर गुड़िया, पृ. 24

35. रमणिका गुप्ता- आपहुदरी, पृ.253

36. मैत्रेयी पुष्पा- कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ. 10

37. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ. 39

38. सुशीला टाकभौरे- शिकंजे का दर्द, पृ.17

39. चम्पा श्रीवास्तव- हिन्दी का आत्मकथात्मक साहित्य, पृ.230

40. कुसुम अंसल- जो कहा नहीं गया, पृ.43

41. दिनेश नंदिनी डालमिया- मुझे माफ करना, पृ.11

42. मैत्रेयी पुष्पा- कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ. 17

43. पद्‌मा सचदेव- बूँद बावड़ी, पृ. 7

44. मन्नू भंडारी- एक कहानी यह भी, पृ. 214

45. मैत्रेयी पुष्पा- गुड़िया भीतर गुड़िया, पृ. 297

46. पद्‌मा सचदेव- बूँद बावड़ी, पृ. 7

47. सुशीला टाकभौरे- शिकंजे का दर्द, पृ.18

48. कुसुम अंसल- जो कहा नहीं गया, पृ.89

49. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ. 17

50. कुसुम अंसल- जो कहा नहीं गया, पृ.19

51. प्रज्ञा पाठक- सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी, पृ. 52

52. मन्नू भंडारी- एक कहानी यह भी, पृ. 132

53. प्रभा खेतान- अन्या से अनन्या, पृ. 191

54. पद्‌मा सचदेव- बूँद बावड़ी, पृ. 10

55. मैत्रेयी पुष्पा- कस्तूरी कुण्डल बसै, पृ. 299

56. वही, पृ. 233

पाँचवाँ अध्याय

उपसंहार

जीवन की अभिव्यक्ति करनेवाला सबसे सशक्त और प्रभावशाली माध्यम साहित्य है। इसी कारण से व्यक्ति द्वारा अपने भावों और विचारों की अभिव्यक्ति करने के लिए साहित्य की विभिन्न विधाओं का सहारा लेता है। साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा आत्मकथा जीवन-सत्य के अधिक निकट होने के कारण आजकल अधिक लोकप्रिय विधा बन गई है। आज आत्मकथा साहित्य उपेक्षितों की स्थिति, उनके शोषण के विविध आयाम, अभावग्रस्त ज़िन्दगी, प्रतिरोध, अस्मिता, संघर्ष, नयी आशा-अभिलाषा आदि को वाणी देने का कार्य कर रहा है। आत्मकथा के मुताबिक स्त्री भी अपने भोगे हुए यथार्थ की प्रामाणिक अभिव्यक्ति कर रही है, जो साहित्य के सन्दर्भ में एक क्रान्तिकारी प्रयास है।

समाज परिवर्तनशील है जिससे साहित्यिक प्रवृत्तियों में भी परिवर्तन आ रहा है और उसका रुप बदलता जा रहा है। इन साहित्यिक रूपों को 'साहित्यिक विधाएँ' नाम से अभिहित किया जाता है, जिसके मुख्य भेद है 'गद्य' और 'पद्य'। हिन्दी साहित्य का विकास 'पद्य' साहित्य के द्वारा ही हुआ है। 'गद्य' साहित्य आधुनिक काल की देन है। 'गद्य' साहित्य के दो रुप है-'कथा साहित्य' और 'कथेतर साहित्य'। 'आत्मकथा' कथेतर साहित्यिक विधा है, जिसे साहित्य के क्षेत्र में गौण मान्यता ही मिली थी। लेकिन आज यह सबसे प्रतिष्ठित और प्रचलित विधा बन गई है। अतः साहित्य जगत् में इसका अपना अलग अस्तित्व है। नई उभरती गद्य विधाओं में आत्माभिव्यक्ति की सशक्त माध्यम होने के कारण आत्मकथा का स्थान सर्वोपरि है।

आत्मकथा में व्यक्ति द्वारा स्वानुभवों की सत्यनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ अभिव्यक्ति होती है। ऐसी अभिव्यक्ति में लेखक के व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ उसके समय और समाज का भी प्रतिफलन होता है। साहित्य की सभी विधाएँ अपनी-अपनी

विशेषताओं और लक्षणों से बाँधी हुई है। इन तत्वों के आधार पर ही उन्हें निर्धारित किया जा सकता है। आत्मकथा उसमें निहित 'आत्मतत्व' के कारण विशिष्ट पहचान बनाती है। अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा आत्मकथा में लेखक का व्यक्तित्व प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत होती है। लेखक को 'आत्म' की अभिव्यक्ति करते समय सचेत रहना पड़ता है क्योंकि अपने सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष को पाठकों के सम्मुख ईमानदारी के साथ प्रस्तुत करना है, आत्म प्रशंसा से भी दूर रहना चाहिए। इसलिए आत्मकथा लेखन तलवार की धार पर सिर रखने के समान है। आत्मकथा के 'आत्मतत्व' साहित्य की अन्य विधाओं में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान रहता है। अतः साहित्य की सभी विधाओं से आत्मकथा साहित्य का संबन्ध सर्व विदित है। फिर भी ये सारी विधाएँ अपने-अपने विशिष्ट स्वरूप के कारण एक दूसरे से भिन्न और स्वतंत्र है।

आधुनिक काल में विकसित आत्मकथा, विधागत स्वरूप के पहले अन्य रूपों में साहित्य में उपलब्ध थी। हिन्दी साहित्य में आदिकाल और भक्तिकाल के कवियों के काव्य में उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों का प्रतिफलन हुआ है। रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि बनारसीदास जैन कृत 'अर्द्धकथानक' (1641 ई.) को पद्य शैली में लिखी हिन्दी की ही नहीं भारत की आत्मकथा साहित्य की प्रथम कृति के रूप में मान्यता प्राप्त है। गद्य साहित्य को नयी दिशा प्रदान करनेवाले भारतेन्दु जी ने ही व्यवस्थित रूप से आत्मकथा लिखने की परंपरा का सूत्रपात किया। भारतेन्दु युग से विकसित आत्मकथा साहित्य को प्रेमचंद ने नई ऊर्जा और प्रोत्साहन दिया। उनके प्रयास से 'हंस' की आत्मकथा विशेषांक के ज़रिए कई लेखकों के 'आत्मकथांश' प्रकाश में आये। स्वातंत्र्योत्तर युग से विभिन्न क्षेत्र से जुडे व्यक्तियों की आत्मकथाएँ

प्रकाशित होने लगी। इनमें साहित्यिक क्षेत्र से आई हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा चार खंडों में प्रकाशित हुई जो हिन्दी के आत्मकथा साहित्य में मील का पत्थर स्थापित हुआ। इसके बाद कई वरिष्ठ लेखकों, पत्रकारों, धार्मिक क्षेत्र से जुडे व्यक्तियों, और राजनीति से जुडे व्यक्तियों की भी आत्मकथाएँ लगातार प्रकाशित होती रही।

नवें दशक से ही दलित और स्त्री आत्मकथाएँ हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित होने लगी। दलित लेखकों ने अपनी जीवन-कथा के माध्यम से दलित समाज की त्रासदियों के प्रति पाठकों को अवगत कराने का प्रयास किया। बीसवीं शती तक आते-आते महिला अत्मकथाओं की संख्या में वृद्धि होने लगी। स्त्री अपनी अस्मिता के बारे में जागृत होने लगी और आत्मकथाओं के ज़रिए अपनी पीडाओं और आक्रोश को शब्द देने लगी। हिन्दी का आत्मकथा साहित्य विषयवस्तु और शैली की दृष्टि से वैविध्यपूर्ण है। दलित और स्त्रियों की आत्मकथाओं ने हिन्दी के आत्मकथा साहित्य को और भी सशक्त कर दिया।

स्त्रीपक्षीय चिंतन आज के सन्दर्भ में सर्वाधिक चर्चित विषय है। समाज में स्त्रियों के प्रति विरोधी भावना जब तक रहेगी तब तक स्त्रीपक्षीय चिंतन की मांग भी बढ़ती जायेगी। स्त्रीपक्षीय चिंतन ने स्त्रीवाद, स्त्री मुक्ति आन्दोलन, स्त्री विमर्श, स्त्री साहित्य, स्त्रीवादी साहित्य आदि कई दिशाओं से होते हुए व्यापक परिदृश्य पर अपनी जड़ जमायी है, जिनका मूल उद्देश्य स्त्री को मानवी के रूप में प्रतिष्ठित करना है। ‘स्त्री-विमर्श’ स्त्री के विषय में गंभीर चिंतन है जिसमें समाज के समस्त क्षेत्रों में स्त्री की भूमिका, लिंग भेद पर आधारित स्त्री उत्पीड़न और स्त्री-मुक्ति से जुड़ी सभी जटिल समस्याओं की चर्चा है। सदियों से दमित होकर जीनेवाली स्त्री जब अपनी

इस दुरवस्था के कारणों को ढूँढने लगी तो तभी से स्त्री विमर्श की भी शुरुआत होने लगी। स्त्री के आत्मबोध के प्रति जागृति ही स्त्री विमर्श का आधार बनी है पितृसत्तात्मक मूल्य व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष करना स्त्री विमर्श का केन्द्रिय मुद्दा है। स्त्री विमर्श मात्र देह विमर्श नहीं। अतः देह विमर्श स्त्री विमर्श का एक पक्ष मात्र है, जिसका फलक बहुत ही व्यापक और विस्तृत है, जिसमें स्त्री शरीर के प्रति पुरुषों के भागेवादी दृष्टिकोण पर, स्त्री देह पर अधिकार स्थापित करने में तत्पर पुरुष मानसिकता पर और स्त्री देह की यौन शुचिता के कठोर नियंत्रण में रखनेवाले पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था पर आक्रोश है। स्त्री विमर्श के सन्दर्भ में ऐसी धारणा प्रचलित है कि यह पुरुष विरोधी विचारधारा है। शुरुआती दौर में स्त्री विमर्श पुरुषविरोधी विचारों से प्रभावित होता दिखाई दे सकता था। लेकिन धीरे-धीरे इन धारणाओं में परिवर्तन आया और वे समझ गई कि उनकी शोषित स्थिति के मूल में सिर्फ पुरुष नहीं पुरुषवर्चस्ववादी सामाजिक व्यवस्था है। अधिकांश लोग स्त्री विमर्श को सिर्फ स्त्रियों की अड्डा मानते हैं। जिनकी राय में स्त्री विमर्श स्त्रियों के लिए स्त्रियों द्वारा स्त्री मुक्ति की लड़ाई है। लेकिन भारतीय सन्दर्भ में स्त्री मुक्ति का प्रयास पुरुषों द्वारा ही शुरू हुआ था, और आज भी पुरुष लोग इस क्षेत्र में सक्रिय भूमिका अदा कर रहे हैं। स्त्री अधिकारों के लिए और स्त्री मुक्ति के लिए पुरुषों द्वारा चलाए गए आन्दोलनों और प्रयासों को नकारा नहीं जा सकते। इसमें भिन्नता तो यह है कि स्त्रियों द्वारा स्त्री विमर्श भुक्तभोगी होने के कारण स्वानुभूतिपरक होता है तो पुरुषों द्वारा स्त्री विमर्श सहानुभूतिपरक इसलिए पुरुष के स्त्री विमर्श में प्रामाणिकता की कमी तो देख सकती है। अतः स्त्री विमर्श एक स्वतंत्र दृष्टिकोण है, जो स्त्री भी कर सकती है और पुरुष भी। यह पुरुषों का विरोधी नहीं बल्कि उनकी अमानवीय व्यवहारों के प्रति विद्रोह है। स्त्री सशक्तीकरण में स्त्रीवाद और स्त्री मुक्ति आन्दोलन

की महत्वपूर्ण भूमिका है। भारत में स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान स्त्री मुक्ति आन्दोलनों की सशक्त पृष्ठभूमि तैयार हो चुकी थी। उन्नीसवीं शताब्दी में पुरुषों द्वारा स्त्रियों की स्थिति में सुधार हेतु शुरु किये आन्दोलन इक्कीसवीं शताब्दी तक आते-आते स्त्री के नेतृत्व में समानता और अस्तित्व की लड़ाई के रुप में परिवर्तित और विकसित हुआ। भले ही भारतीय स्त्री विमर्श पाश्चात्य स्त्री विमर्श से बहुत कुछ प्रभावित है, फिर भी भारत में स्त्री पक्षीय चिंतन की अपनी एक मज़बूत ज़मीन है और विदेश से आयातित कहकर खारिज करनेवाले विवाद का खंडन करते हुए आज यह व्यापक परिदृश्य में आगे बढ़ रहे हैं।

समाज में स्त्री मुक्ति से जुडे जितने भी प्रयास चल रहे हैं, साहित्य उनसे अलग नहीं रह सकता। उत्तराधुनिक साहित्यिक विमर्शों में 'अस्मिता की पहचान' का सवाल जब 'स्त्री विमर्श' के रुप में सामने आई तब से स्त्री समस्याओं पर समग्रता से विचार-विमर्श होने लगे। 'स्त्री विमर्श' के तहत साहित्यिक क्षेत्र में स्त्रियों की आत्मानुभूतियों का भी प्रामाणिक अभिव्यक्ति होने लगी जिसके फलस्वरुप 'विषय' की भूमिका निभाती स्त्री 'कर्ता' के स्थान पर आ गई। उन्होंने स्त्रियों के सर्वांगीण विकास के लिए आवाज़ उठाई। जिसमें पुरुष रचनाकारों का भी योगदान महत्वपूर्ण है। प्राचीन और मध्ययुग में स्त्री को भोग्या या आदर्श स्त्री के रुप में प्रस्तुत करते हिन्दी साहित्य ने आधुनिक काल में स्त्री की दर्दभरी ज़िन्दगी और समस्याओं को प्रस्तुत करते हुए उसमें चेतना जगाने की प्रयास किया। बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक आते-आते स्त्री के हर रुप में उत्पीड़न, शोषण, दमन और शोषण को जन्म देनेवाली स्थितियों और मुद्दों के खिलाफ 'अस्मिता की लड़ाई' का आह्वान किया। ऐसा देखा जाये तो स्त्री विमर्श एक स्थायी विचार नहीं बल्कि वह

परिवर्तनशील है। समाज में होनेवाले परिवर्तन के साथ-साथ 'स्त्री विमर्श' के स्वरूप और विचार में भी परिवर्तन संभाव्य है, जो स्त्री के प्रति मानवीय दृष्टिकोण की माँग करता है।

आज आत्मकथा साहित्य जितना व्यापक परिणामों तथा बहुआयामी सन्दर्भों में लिखा जा रहा है, उसमें स्त्री भी अपने जीवन का समग्र चित्रण बेबाकी से कर रही है, और अपनी एक पहचान भी अर्जित कर रही है। आत्मकथाओं के माध्यम से लेखिकाओं ने स्त्री के संघर्षमय जीवन का चित्रांकन किया। अपने जीवनानुभवों के ज़रिए स्त्री संबन्धी कई सवालों को समाज के सामने प्रस्तुत किया। लेखिकाओं ने अपने जीवन के यथार्थ पहलुओं तथा जीवन के आक्रोशों के तेवर को लेकर स्त्रियों को जागरुक बनाने की कोशिश की।

आज हिन्दी साहित्य में महिला आत्मकथाएँ प्रचुर मात्रा में आयी है। जैसे दुःखिनीबाला की 'सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी', दिनेश नंदिनी डालमिया की 'मुझे माफ करना', चद्मा सचदेव की 'बूँद बावडी', कुसुम अंसल की 'जो कहा नहीं गया', कौसल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप', मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुण्डल बसै', 'गुडिया भीतर गुडिया', मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी', 'चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की 'पिंजरे की मैना', सुशीला राय की 'एक अनपढ़ कहानी', प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या', कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा', 'और...और... औरत', रमणिका गुप्ता की 'हादसे', 'आपहुदरी', सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द' आदि।

महिला आत्मकथाओं में स्त्री शोषण के विभिन्न आयामों की अभिव्यक्ति हुई है। पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत आज भी स्त्रियों को बहुत सारी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती है। समाज के हर क्षेत्र में स्त्रियों को कई समस्याओं से जूझनी पड़ती है। परिवार समाज की एक आधारभूत इकाई है, जिसमें स्त्री और पुरुष का समतुल्य योगदान और समान अस्तित्व निर्धारित है। लेकिन भारतीय समाज में मौजूद पितृसत्ता ने परिवार को भी अपने कब्जे में कर दिया, वहाँ पुरुषों ने अपने को अधिकारी घोषित करके स्त्रियों की अपनी अज्ञाओं का पालन करनेवाली सेविका बना दी। परिवार में स्त्री दासी, धोबिन, बच्चे पैदा करनेवाली मशीन, नर्स, रसोइया और पति के लिए वेश्या बनने का कार्य भी संभालती है। उसके द्वारा किये जानेवाले हर कार्य और प्रयत्न को 'कर्तव्य' के नाम पर खारिज कर दिया जाता है। परिवार के हर कार्य संभालते हुए भी वहाँ अधिकार विहीन होकर, परिवार के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए स्त्री को अपनी इच्छाओं, आकांक्षाओं, संवेदनाओं और आत्मसम्मान की भी बली देनी पड़ती है। हिन्दी की स्त्री आत्मकथाओं में परिवार के लिए सब कुछ सहनेवाली, संघर्ष करनेवाली, पारिवारिक जिम्मेदारियों को कर्तव्य समझकर जीनेवाली स्त्रियों की विवशता का चित्रण है। मन्नू भंडारी, प्रभा खेतान, सुशीला राय, सुशीला टाकभौरे जैसी लेखिकाओं ने पितृसत्तात्मक परिवार में नौकरानी की हैसियत से जीनेवाली स्त्री के जीवन की विवशता को दर्शाया है।

पुरुष चाहता है कि स्त्री हमेशा उनके ही नियंत्रण में रहें, उनके इच्छानुसार उनकी कामचलाऊ मशीन की भूमिका निभायें और जितने भी जुल्म होने पर, सब कुछ सहकर पति या पुरुष की आज्ञाकारिणी बनें। रमणिका गुप्ता ने 'आपहुदरी' में अपने पति वेदप्रकाश की ऐसी मानसिकता का चित्रण किया है। सुशीला टाकभौरे जी

के पति भी पत्नी को एक बर्तन माँजनेवाली नौकरानी के समान देखती और व्यवहार करते थे।

परिवार में स्त्री का धर्म रसोइया या परिचारिका तक सीमित नहीं थी बल्कि उसे भोग्या की भूमिका भी निभानी पड़ती थी। कृष्णा अग्निहोत्री जी ने 'लगता नहीं है दिल मेरा' में अपने पति की कामोत्सुकता और बलात्कार का पर्दाफाश किया है। परिवार में लड़के-लड़की का भेद-भाव आज भी कायम है। बच्चों के जन्म से ही लड़का-लड़की का भेद-भाव शुरु होता है। लड़के के जन्म पर खुशियाँ मनाना और लड़की के जन्म को पाप और अपशकुन मानना पितृसत्तात्मक समाज की कूटनीति है। मैत्रेयी पुष्पा ने 'गुडिया भीतर गुडिया' में लड़की के जन्म को पाप माननेवाली सामाजिक मानसिकता को बहुत ही तीखे ढंग से प्रस्तुत किया है।

'स्त्री पैदा नहीं होती बल्कि बनाई जाती है'। अर्थात स्त्री और पुरुष में भले ही जैविक विषमताएँ तो है लेकिन मानसिक और बौद्धिक क्षमता से दोनों भिन्न नहीं है। स्त्री जन्म से ही स्त्री नहीं होती बल्कि समाज और परिवार द्वारा उसे स्त्री बनाती है। पितृसत्तात्मक मूल्यों के प्रचार-प्रसार का प्रमुख संस्था है परिवार। परिवार में रहकर ही स्त्री सबसे पहले पितृसत्ता से परिचित होती है और स्त्री को स्त्री के रूप में निर्मित करने में परिवार की अपनी भूमिका है। अधिकांश स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री को स्त्री बनाने की पुरुषसत्तात्मक समाज की क्रूरनीति का चित्रण हुआ है। लड़कियों को बचपन से ही लड़की बनाने का पूर्ण दायित्व वहाँ की स्त्रियों पर निर्भर होता है, जो पितृसत्तात्मक समाज की दलाल के रूप में कार्य संभालती है।

स्त्री शोषण व उत्पीड़न की सबसे बड़ी कार्यशाला है 'परिवार'। परिवार में स्त्रियाँ अपनी पिता, भाई, नाना, दादा, पति आदि की कामवासना की शिकार हो जाती है। परिवार की प्रतिष्ठा हेतु या हीनभावना और अपराधबोध से स्त्री उसे चुपचाप सहती है। रमणिका गुप्ता, प्रभा खेतान, कृष्णा अग्निहोत्री आदि लेखिकाएँ बचपन में परिवारवालों द्वारा हुए यौन-शोषण की शिकार है। परिवार में स्त्रियों को पुरुष की वर्चस्ववादी एवं अहंवादी मानसिकता का भी शिकार होना पड़ता है।

हिन्दी की स्त्री आत्मकथाओं में एक ओर पारिवारिक जिम्मेदारियों को अपना कर्तव्य समझकर निभानेवाली या परिवार को साथ रखते हुए, पारिवारिक मूल्यों के प्रति संघर्ष का रास्ता अपनाते हुए अपने अस्तित्व को बनाये रखनेवाली स्त्रियाँ है तो दूसरी ओर 'परिवार' को नकारते हुए व्यक्तित्व विकास में परिवार और पारिवारिक उत्तरदायित्व को बाधा माननेवाली स्त्रियाँ भी हैं। मन्नू भंडारी, कुसुम अंसल, मैत्रेयी पुष्पा, सुशीला टाकभौरे, कृशणा अग्निहोत्री सुशीला राय आदि लेखिकाएँ अपने अस्तित्व के प्रति सजग होते हुए भी परिवार के घेराबंदी में फंसकर अपनी ज़िन्दगी को तोड़ना नहीं चाहती। मन्नू भंडारी, कृष्णा अग्निहोत्री, पद्मा सचदेव, रमणिका गुप्ता, कौशल्या बैसंत्री आदि लेखिकाएँ विवाह-विच्छेद के जरिए अपने को परिवार से मुक्त करती है। शादी के बाद हुए पति के वर्चस्ववादी व्यवहार ने इन स्त्रियों को परिवार से अलग रहने को मज़बूर किया।

भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति बहुत ही दयनीय है। पुरुष प्रधान समाज की निरंकुश मानसिकता ने स्त्री को हमेशा के लिए हाशियेकृत रखना चाहा। इस हाशियेकरण की प्रक्रिया में पितृसत्ता ने जाति, धर्म, शास्त्र और सत्ता को हथियार के रूप में ले लिया। 'विवाह संस्था' पितृसत्ता का क्रूरतम रूप है जिसमें बालविवाह

अनमेल विवाह, दहेज प्रथा, बहुपत्नी प्रथा से स्त्री लगातार उत्पीड़न का शिकार होती जा रही है। स्त्री आत्मकथाएँ 'बालविवाह' की शिकार होनेवाली स्त्रियों और अनमेल विवाह से 'वैधव्य' को स्वीकार करने में विवश स्त्रियों की भी दर्दभरी जीवन का दास्तान है। 'सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी', 'कस्तूरी कुंडल बसै' आदि आत्मकथाओं में बाल विवाह के शिकार होते बचपन से ही विधवा होकर जीने में अभिशप्त स्त्री जीवन की त्रासदी को दर्शाया है।

दलित स्त्रियों को समाज में दोहरे शोषण का शिकार होना पडता है। स्त्री होने के साथ-साथ दलित होने की पीड़ा को भी वे झेलती है। सुशीला टाकभौरे, और कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा में दलित स्त्री के दोहरे शोषण को उजागर किया है।

आर्थिक रूप से स्वतंत्र व्यक्ति ही अपना जीवन अपनी इच्छानुसार, अपनी शर्तों पर जीने में सक्षम हो जाता है। स्त्री का आर्थिक परावलंबन उसे स्वतंत्र रूप से जीने नहीं देता। स्त्री आत्मकथाएँ आर्थिक अभाव से जूझनेवाली, आर्थिक रूप से शोषण की शिकार होनेवाली, और आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होनेवाली स्त्री जीवन का खुलासा है। मन्नू भंडारी, प्रभा खेतान, रमणिका गुप्ता, कृष्णा अग्निहोत्री आदि लेखिकाओं ने स्त्री की आर्थिक आत्मनिर्भरता पर ज़ोर दिया है।

स्त्री आत्मकथाओं में तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों और राजनीति के प्रति स्त्रियों के दृष्टिकोण को भी प्रस्तुत किया है। राजनीति में प्रवेश करती स्त्रियों को सत्ताधारियों और राजनैतिक नेताओं द्वारा शारीरिक शोषण को भी झेलना पडता है। राजनीति में प्रवेश करती स्त्रियों को राजनीति में अपनी पहचान बनाने के लिए

वरिष्ठ नेता लोगों के साथ यौन-संबन्ध के लिए मज़बूर किया जाता है। रमणिका गुप्ता की आत्मकथा 'हादसे' और 'आपहुदरी' में इसका खुला चित्रण हुआ है।

साहित्यिक क्षेत्र में नई उभरती लेखिकाओं को अपनी कृति को छपाने का वादा देकर शारीरिक संबन्ध के लिए मज़बूर करनेवाले पुरुषवर्चस्व के भोगवादी नजरिया का भी चित्रण स्त्री आत्मकताओं में हुआ है। मैत्रेयी पुष्पा, कृष्णा अग्निहोत्री आदि लेखिकाओं की आत्मकथाएँ इसका गवाह है। साहित्यिक क्षेत्र में फैली 'गॉडफादर' संस्कृति और भ्रष्टाचार का भी चित्रण कुसुम अंसल जी ने बहुत ही बारीकी से उभारा है।

स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री जीवन की वैयक्तिक अनुभूतियों का खुलासा हुआ है। स्त्री ने अपनी अंतर्संवेदनाओं को बिना हिचक के प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मातृत्व, सेक्स की अनुभूति, अकेलेपन की पीड़ा, मासिक धर्म और उसकी समस्यायें, प्रसूती की पीड़ा आदि स्त्री की अपनी संवेदनाएँ हैं, जो अभी तक दबाकर रखी थी, स्त्री आत्मकथाओं के ज़रिए लेखिकाओं ने उसे अभिव्यक्ति देने का कार्य किया है।

स्त्री आत्मकथाकारों ने 'स्त्री की भाषा' जैसी नई संकल्पना को अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से साकार करने की कोशिश की है। स्त्रियाँ अपनी अतंर्संवेदनाओं को बहुत ही संवेदनशील भाषा में प्रस्तुत किया है। भाषा के क्षेत्र में मौजूद पुरुषवर्चस्व को तोड़ने की प्रवृत्ति स्त्री भाषा की ख़ासियत है। स्त्री आत्मकथाओं में स्त्रीयों ने वैयक्तिक अनुभूतियों की खुली अभिव्यक्ति के लिए प्रतिरोधात्मक भाषा को अपनाया है। उनमें लेखिकाओं ने पूर्वनिर्धारित भाषिक संरचना को तोड़कर भाषा को रुढ़िमुक्त और स्वच्छन्द बनाने का प्रयास किया है साथ

ही साथ परंपरागत भाषिक शैलियों के प्रयोग से उसमें सौन्दर्यात्मकता लाने का प्रयास भी किया है।

'हिन्दी महिला आत्मकथा साहित्य : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन' विषय पर शोध करने के उपरान्त कई उपलब्धियाँ प्राप्त हुई है जिनका सार संक्षेप निम्नांकित है:-

- स्त्री आत्मकथाएँ स्त्री जीवन का दर्दभरी दास्तान है। जिसमें उनकी पीड़ाओं और विवशताओं का चित्रण है।
- स्त्री आत्मकथाओं में लेखिकाओं ने अपने सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष की अभिव्यक्ति दी है।
- स्त्री आत्मकथाओं में निजी अनुभवों के ज़रिए पूरे स्त्री समाज की समस्याओं को उद्घाटित किया है।
- भारतीय समाज में स्त्री हर कहीं किसी न किसी तरह शोषण की शिकार है।
- परिवार में पितृसत्तात्मकता अब भी कायम है। वहाँ स्त्री की भूमिका सिर्फ एक नौकरानी की होती है।
- परिवार में स्त्रियों का यौन-शोषण आम बात बन गई है। मासूम बच्चियों को अपने पिता, भाई, और चाचा द्वारा यौन-शोषण का शिकार होना पड़ता है।

- यौन-शोषण की शिकार होती स्त्रियों को समाज चुप रहने का पाठ पढाता है। अपराध बोध और हीनताबोध की शिकार होती स्त्रियों को उससे उभरने केलिए जीवन भर संघर्ष करना पडता है।

- परिवार में स्त्रियों को लिंगभेद की राजनीति से संघर्ष करना पड़ता है। लड़का-लड़की का भेद भाव स्त्री जीवन को नरकतुल्य बनाता है।

- पारिवारिक व्यवस्था में मौजूद अधिनायकत्व से, परिवार के प्रति स्त्री की आस्था टूटने लगी है। कभी-कभी बच्चों के ख़ातिर स्त्री सब कुछ सहने में तैयार हो जाती है। पति की वर्चस्ववादी एवं अहंवादी मानसिकता स्त्री को परिवार से अलग होकर जीने को मज़बूर करती है।

- स्त्रियों के प्रति समाज की मानसिकता दोहरी ही है। उनको हमेशा दबाकर रखने में सामाजिक संस्थायें जैसे विवाह, धर्म, शास्त्र, आदि की अहम भूमिका है।

- स्त्री उत्थान में शिक्षा की महत्वपूर्ण भूमिका है। शिक्षा के माध्यम से ही वह आगे बढ़ सकती है। स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री की शिक्षा की वकालत की है।

- स्त्रियों का आर्थिक रूप से स्वतंत्र होना अनिवार्य है। आर्थिक परावलंबन उस को हमेशा दूसरों के गुलाम बनने को विवश करता है। आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर स्त्री ही ख़ुद निर्णय लेने की शक्ति रख़ती है।

- पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्री वस्तू के रुप में बदल गयी है। पुरुष जब चाहे उसे इस्तेमाल कर सकते हैं और फेंक भी सकते है। स्त्री आत्मकथाएँ स्त्री को व्यक्ति की हैसियत देने का आह्वान करती है।

- स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री की आत्मानुभूतियों की खुली अभिव्यक्ति हुई है। मातृत्व, यौनानुभूति, यौनक्रीडाएँ, प्रेम की अनुभूति, मासिक धर्म, समलैंगिकता, प्रसूती कार्य आदि को स्त्री आत्मकथाकारों ने बेहिचक प्रस्तुत किया है।

- स्त्री आत्मकथाएँ पितृसत्तात्मक समाज के प्रति स्त्रियों का प्रतिरोध है। प्रतिरोध या संघर्ष के ज़रिए ही स्त्री आगे बढ़ सकती है। स्त्री आत्मकथाओं में पितृसत्तात्मक सामाजिक मूल्यों के विरुद्ध लड़ाई का आह्वान है। अतः स्त्री आत्मकथाओं को स्त्रियों ने प्रतिरोध के हथियार के रूप में ले लिया है।

- दलित स्त्री आत्मकथाएँ स्त्री के दोहरे शोषण का दस्तावेज है। दलित स्त्रियों को स्त्री होने के साथ-साथ दलित होने की पीड़ा को भी भोगना पड़ता है।

- स्त्री आत्मकथाओं में समाजिक बदलाव की कामना है। 'समतुल्य समाज की स्थापना' इसका लक्ष्य है।

- 'स्त्री की भाषा' जैसी नई संकल्पना को साकार करने की कोशिश में स्त्री आत्मकथाओं की भूमिका प्रशंसनीय है।

समग्रतः विचार करने पर स्पष्ट होगा कि स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री जीवन से जुडी तमाम समस्याओं के प्रस्तुतीकरण के साथ-साथ, स्त्री के प्रतिरोध और मुक्ति की छटपटाहट की कलात्मक अभिव्यक्ति हुई है।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

संदर्भ ग्रंथ-सूची

मूल ग्रन्थ

1. कुसुम अंसल : जो कहा नहीं गया
   राजपाल एण्ड सन्स प्रकाशन
   नई दिल्ली प्र.सं. 1996
2. कौसल्या बैसंत्री : दोहरा अभिशाप
   परमेश्वरी प्रकाशन
   नई दिल्ली, प्र.सं. 1999
3. कृष्णा अग्निहोत्री : लगता नहीं है दिल मेरा
   सामयिक बुक्स, नई दिल्ली
   प्र.सं. 2010
4. कृष्णा अग्निहोत्री : और... और....औरत
   सामयिक बुक्स, नई दिल्ली
   प्र.सं. 2010
5. चन्द्रकिरण सौनरेक्सा : पिंजरे की मैना
   पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली
   प्र.सं. 2008
6. दिनेश नंदिनी डालमिया : मुझे माफ करना
   नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली
   प्र.सं. 1985
7. पद्मा सचदेव : बूँद बावड़ी
   वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
   प्र.सं. 1999
8. प्रभा खेतान : अन्या से अनन्या
   राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
   प्र.सं. 2007

9. प्रज्ञा पाठक : सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी
परमेश्वरी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र.सं. 2010

10. मन्नू भंडारी : एक कहानी यह भी
राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली
प्र.सं. 2008

11. मैत्रेयी पुष्पा : कस्तूरी कुण्डल बसै
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र.सं. 2002

12. मैत्रेयी पुष्पा : गुड़िया भीतर गुड़िया
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र.सं. 2008

13. रमणिका गुप्ता : हादसे
राधाकृष्ण पेपरबैक्स, नई दिल्ली
प्र.सं. 2005

14. रमणिका गुप्ता : आपहुदरी
सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र.सं. 2015

15. सुशीला राय : एक अनपढ कहानी
रोशनाई प्रकाशन, पश्चिम बंगाल
प्र.सं. 2005

16. सुशीला टाकभौरे : शिकंजे का दर्द
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
प्र.सं. 2011

सहायक ग्रन्थ

1. डॉ.अर्जुन चौहान : आधुनिक हिन्दी कालजयी साहित्य
   राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2002
2. अनामिका : स्त्री विमर्श का लोकपक्ष
   वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012
3. अरविन्द जैन : औरत : अस्तित्व और अस्मिता
   राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001
4. डॉ. आनंद सिन्दल : आत्मकथा : साहित्य, सिद्धान्त और समीक्षा,
   अमन प्रकाशन, कानपूर, 2014
5. डॉ. आर.पी भोसले : कुसुम असल के हिन्दी साहित्य में चित्रित नारी जीवन के विविध आयाम
   पूजा प्रकाशन, कानपूर, 2012
6. उमा शुक्ल : भारतीय नारी : अस्मिता की पहचान
   लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1994
7. डॉ.करुण उभरे : स्त्री विमर्श : साहित्यिक और व्यावहारिक सन्दर्भ
   अमन प्रकाशन, कानपूर, 2009
8. डॉ.करुणा शर्मा : कमलेश्वर के कथा साहित्य में स्त्री विमर्श
   नवचेतन प्रकाशन, दिल्ली, 2011
9. डॉ. के. एस. मालती : स्त्री विमर्श : भारतीय परिप्रेक्ष्य
   वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010
10. के. वनजा : साहित्य का परिस्थितिक दर्शन
    वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011

11. चन्द्रकांत देवताले : लकडबग्घ हंस रहा है
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2000

12. डॉ.चन्द्रभानू सीताराम सोनवणे : हिन्दी गद्य साहित्य : आर्यसमाज की हिन्दी गद्य साहित्य को देन
रामबाग, कानपूर, 1974

13. डॉ.चम्पा श्रीवास्तव : हिन्दी का आत्मकथात्मक साहित्य
वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2013

14. जगदीश्वर चतुर्वेदी : स्त्रीवादी साहित्य विमर्श
अनामिका पब्लिशेर्स एंड डिस्ट्रिब्यूटेर्स (प्र.लि), नयी दिल्ली, 2011

15. नामवर सिंह : वाद विवाद संवाद
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989

16. निर्मला जैन : हिन्दी आलोचना का दूसरा पाठ
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012

17. नीरू : प्रतिरोध का दस्तावेज: महिला आत्मकथाएँ
संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

18. नंदकिशोर नवल : छायांतर
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2003

19. प्रभा खेतान : उपनिवेश में स्त्री
राजकमल प्रकाशन, 2003

20. प्रतिमा दवे शास्त्री : प्रमुख्र महिला कथाकारों की आत्मकथाओं का शैली वैज्ञानिक विश्लेषण
अमल प्रकाशन, कानपूर, 2017

21. प्रमीला. के.पी. : स्त्री अध्ययन की बुनियाद
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2015

22. डॉ. प्रमोद कोवप्रत : हिन्दी दलित साहित्य एक मूल्यांकन
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2016

23. प्रेमचंद : प्रेमचंद की संपूर्ण कहानियाँ,
खण्ड 1

24. पंकज चतुर्वेदी : आत्मकथा की संस्कृति
वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003

25. पंत : युगवाणी
भारत भंडारी लीडर प्रेस, 2006

26. डॉ. बलिराम धापसे : यशापाल का कथेतर साहित्य
अभय प्रकाशन, कानपूर, 2007

27. डॉ. बापुराव देसाई : हिन्दी आत्मकथा विद्या- शास्त्र और इतिहास
चन्द्रलोक प्रकाशन, कानपूर, 2010

28. डॉ. बालाजी श्रीपती भूरे : कृष्ण अग्निहोत्री के उपन्यासों में नारी
शैलजा प्रकाशन, कानपूर, 2011

29. डॉ. ममता गंगवार : आधुनिक भारत की नारी ऐतिहासिक
परिप्रेक्ष्य में साहित्य निलय, कानपूर, 2011

30. डॉ. मुक्ता त्यागी : समकालीन महिला उपन्यासकारों के
उपन्यासों में नारी-विमर्श
अमन प्रकाशन, 2012

31. प्रा. मुकेशकुमार कांजिया : साहित्य और समाज
अमर पब्लिकेशन, कानपूर, 2013

32. मृणाल पांडे : स्त्रीः देह की राजनीती से देश की राजनीती
तक
राधाकृष्ण प्रकाशन, 1987, नयी दिल्ली

33. मृणाल पांडे : स्त्री: लम्बा सफर
राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2012

34. डॉ.रघुनाथ गणपति देसाई : महिला- आत्मकथा लेखन में नारी
ए. बी. एस. पब्लिकेशन्, वारणासी, 2012

35. डॉ.रघुनाथ गणपति देसाई : हिन्दी- मराठी महिला नाटय् लेखन में नारीवाद, ए. बी. एस. पब्लिकेशन, वारणासि. 2012

36. रमणिका गुप्ता : स्त्री मुक्ति संघर्ष और इतिहास
सामयिक प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2014

37. रमणिका गुप्ता : स्त्री विमर्श : कलम और कुदाल
बहाने प्रशिलपायान, 2006

38. राजेन्द्र यादव : आदमी की निगाह में औरत
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001

39. रामविलास शर्मा : अंतरंग स्मृतियाँ और मुलाकातें
प्रकाश मनु स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 2002

40. रामस्वरुप चतुर्वेदी : हिन्दी गद्य : विन्यास और विकास
लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1996

41. रेखा कस्तवार : स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2006

42. रोहिणी अग्रवाल : स्त्री लेखन: स्वप्न और संकल्प
राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2011

43. लीलाधर जगुडी : भय भी शक्ति देता है
राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली, 1991

44. लेफ्टिनेन्ट. डॉ. देव सिंह मल्लिक : महिला लेखन
विकास प्रकाशन, कानपूर, 2013

45. शहनाज़ बानो : भक्ति काव्य में पितृसत्ता और स्त्री विमर्श,
अनिरुद्ध बुक्स, दिल्ली, 2010

46. डॉ. शशिभूषण सिघंल : साहित्य विधाएँ
आधुनिक प्रकाशन, दिल्ली, 2002

47. प्रो. शिवाजी देवरे : हिंदी आत्मकथा
विद्या प्रकाशन, कानपूर, 2016

48. शीला झुनझुनवाला : कुछ कही कुछ अनकही
किताबघर प्रकाशन, 2009

49. डॉ. श्याम सुंन्दर घोष : साहित्य के नये रूप
कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर, 1969

50. डॉ. सरजू प्रसाद मिश्र : हिन्दी लेखिकाओं की आत्मकथाएँ
अमन प्रकाशन, कानपूर, 2011

51. डॉ. सियाराम : स्त्री विमर्श के विविध सन्दर्भ
ओमेगा प्रकाशन, दिल्ली, 2013

52. सीमा दीक्षित : स्त्री अस्मिता : शय्या से सर्वोच्च अदालत तक
सामयिक बुक्स, 2011

53. डॉ. सुधा. बी : हिन्दी कथा साहित्य में रूढिमुक्त स्त्री
जवहर पुस्तकालय, दिल्ली, 2010

54. सुधीश पचौरी : उत्तर आधुनिक दौर में साहित्य
प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

55. सूर्य प्रसाद दीक्षित : महादेवी का गद्य
नेशनल पब्लिशिंग: हाउस, नई दिल्ली, 2008

56. डॉ. संगीता. के : नारी चेतना की सार्थक तलाश
जवहर पुस्तकालय, 2013, दिल्ली

57. डॉ. संजय ढोडरे : हिंदी का महिला आत्मकथाकार
विद्या प्रकाशन, कानपूर, 2016

58. प्रा. श्रीनिवास : डॉ. इरिवंशराय बच्चन का आत्मकथात्मक साहित्य
अभय प्रकाशन, कानपूर, 2014

59. श्रीलाल शुक्ल : कुछ साहित्य चर्चा भी
राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2008

60. ज्ञानेन्द्र कुमार सन्तोष : आत्मकथा और उपन्यास
राधाकृष्ण प्रकाशन. प्र.लि.
नयी दिल्ली 2013

अंग्रेज़ी ग्रन्थ

1. Cheris Kramarae, Dale Spender : Routledge International Encyclopedia of Women
2. Encyclopedia Brittanicca : Vol. II. 1971
2. Gaganraj : Dictionary of Literary Terms, 1990
3. Linda Anderson : Autobiography
4. S Channa : Encyclopedia of Feminist Theory, Vol. I
5. S. H. Steinspurg : Cassel's Encyclopedia of Literature

मलयालम ग्रन्थ

1. के.एम्. जोर्ज : जीवचरित्र साहित्यम्
2. नडुवट्टम् गोपालकृष्णन : आत्मकथा साहित्यं मलयालत्तिल्

कोश ग्रन्थ

1. आचार्य रामचन्द्रवर्मा : प्रामाणिक हिन्दी कोश
2. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी विश्वकोश
3. भोलानाथ तिवारी : व्यावहारिक हिन्दी कोश
4. अभय कुमार दुबे : समाज विज्ञान विश्वकोश खण्ड 3

पत्र-पत्रिकाएँ

1. आलोचना पत्रिका - दिसंबर- 2009
2. भाषा - दिसंबर- 2006
3. मधुमती - मार्च – 2011
4. नव निकष - फरवरी- 2016
5. समकालीन भारतीय साहित्य -नवंबर-दिसंबर- 2002
6. साहित्य अमृत - नवंबर - 2004
7. संग्रथन - मई - 2013
8. हंस - सितंबर- 2010
9. हंस - फरवरी - 2006

मलयालम् पत्रिका

1. तुडि - एप्रिल- जून 2014
2. माध्यमम् - फरवरी 2017

Website

1. https://hi.m.wikipedia.org.
2. https://m.hindi.webdunia.com